

# मानव धर्म

वार्षिक मूल्य
५)
एक प्रति का
।≡)

सम्पादकः--पं० दीनानाथ भार्गव 'दिनेश'

युद्धांक की विषयसूची जून के अंक में प्रकाशित हो चुकी है। उसे कृपया वहां देख लें। हम चाहते हैं कि इस अंक को अधिक से अधिक व्यावहारिक और उपयोगी बनाया जाय। इसी विचार से पारिवारिक-युद्ध का एक स्तम्भ और बढ़ाया है। घर में कलह कैसे होती है? उसमें स्त्री का क्या धर्म है, पुरुष का क्या धर्म है? गृह-कलह किस प्रकार शान्त की जाय आदि आदि काम के लेख इसमें होंगे।

यह स्तम्भ गृहस्थों के लिये अत्यन्त उपयोगी होगा।

यह जौलाई अंक इस वर्ष का अन्तिम अंक है।

आपका वार्षिक चन्दा इस महीने में समाप्त हो जाता है।

युद्धांक से मानवधर्म का नया वर्ष प्रारम्भ होगा, अतः आप नये वर्ष के ग्राहक बनने के लिये ५) वार्षिक मूल्य शीघ्र ही भेजने की कृपा करें।

# विषय-सूची



## युद्धांक का सम्पादन

भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध विद्वानों तथा अनुभवी और सफल सम्पादकों द्वारा युद्धांक का सम्पादन हो रहा है। निम्न सम्पादकों ने सम्पादन कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

म० म० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य जयपुर

पं० श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे

विद्यावाचस्पति पं० जौहरीलाल शर्मा सांख्ययोगाचार्य

श्री १०८ स्वामी गोपालनाथजी आनन्दमूर्ति षड्दर्शनाचार्य

श्री पं० रामचन्द्र तिवारी तथा विद्याभूषण श्री पं० मोहन शर्मा विशारद

## मानवधर्म का वार्षिक मूल्य

कृपया अपना वार्षिक चन्दा भेजते समय यह ध्यान रखें कि मानवधर्म का वार्षिक चन्दा इस वर्ष से ५) पांच रुपया हो गया है।

जिन सज्जनों ने ४≡) का मनिआर्डर भेज दिया है वे ||।–) आने के टिकिट और भेजने की कृपा करें।

युद्धांक की विषयसूची जून के अंक में प्रकाशित हो चुकी

[illegible]

ही भेजने की कृपा करें।

८ २५



# विषय-सूची

आदरणीय पाठक बन्धुओं,

सादर हरिस्मरणम् !

मानवधर्म अपने तृतीय वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इस वर्ष का प्रथम अङ्क युद्धांक होगा। युद्धांक का नाम भयङ्कर अवश्य है परन्तु युद्ध का फल शान्ति है। यह युद्धांक उस युद्ध का संदेश लेकर उपस्थित होरहा है जिसमें विजय ही जीवन है। जीवन संघर्षपूर्ण है, मनुष्य के भीतर, बाहर और सर्वत्र युद्ध होरहा है इस युद्ध में विजय कैसे हो, मनुष्य दानवता को जीतकर मानवता के राज्य का किस प्रकार उपभोग करे यही युद्धांक का विषय होगा। बड़े बड़े महात्माओं, जगद्गुरुओं, विद्वानों और लेखकों ने युद्धांक निकालने की आयोजना की प्रशंसा की है और हमारे इस प्रयत्न को अत्यन्त लाभकारी ठहराया है। युद्धांक में क्या होगा इसे जानने के लिये आप युद्धांक की विषयसूची और माननीय आचार्यों के भेजे हुए संदेश अवश्य पढ़ें। इतने महत्वपूर्ण उपयोगी, संग्रहणीय और दुर्लभ अङ्क को प्राप्त करने से आप वंचित न रहजाँय। इसके लिये आप तत्काल ही इस अङ्क में रखे मनिआर्डरफ़ार्म द्वारा रु० ५) कार्यालय में भेज दें जिसमे आपका अङ्क सुरक्षित हो जाय।

जहांतक हो सके पाठकों से प्रार्थना है कि वे शीघ्र ही मनिआर्डर भेजदें। वी. पी. द्वारा मंगाने में अङ्क देर से मिलेगा दूसरे कार्यालय का काम भी कुछ बढ़जाता है।

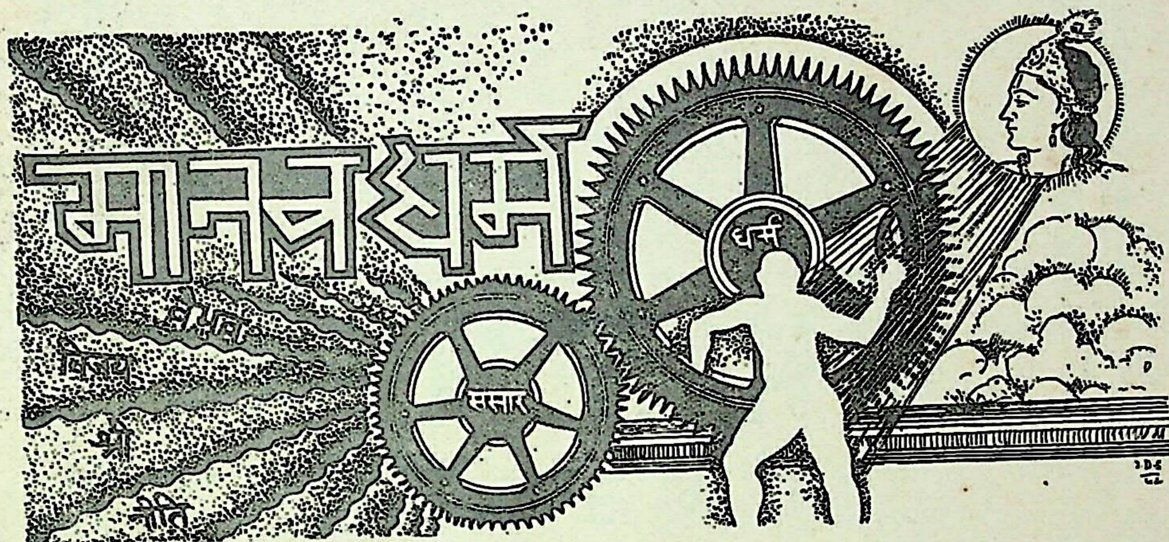
मानवधर्म का वार्षिक मूल्य इस वर्ष से ५) करदिया गया है।

आपका सहयोग प्रार्थनीय है। हमें महती आशा और दृढ़ विश्वास है कि आप स्वयं ग्राहक बनेंगे और औरों को धर्म सेवा के नाते ग्राहक बनाकर भेजेंगे।

भवदीय—

केदारनाथ भार्गव

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥




वर्ष २ } दिल्ली. आषाढ़ वि० सं० २००० जुलाई १९४३ { संख्या १२

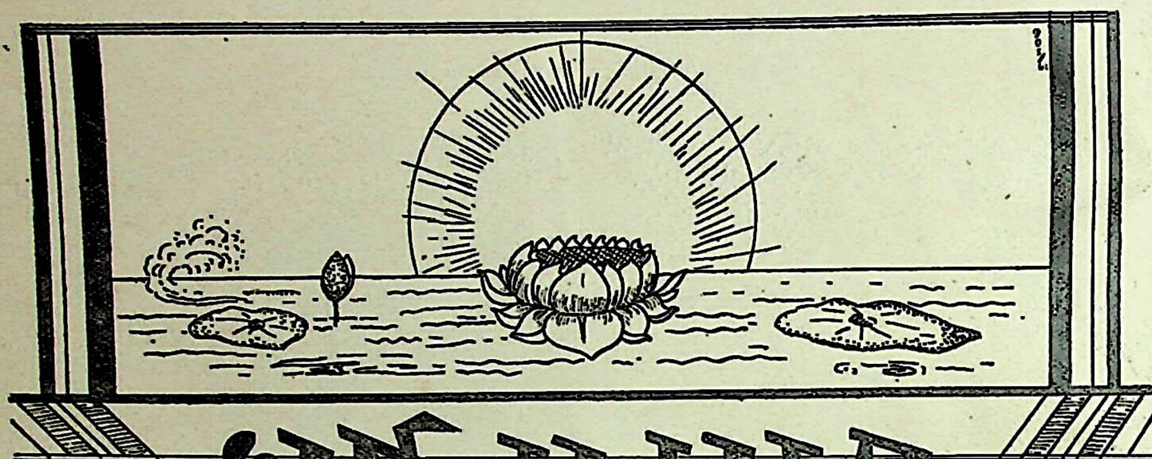
# प्रार्थना

तृष्णा की तरंगें हों विलीन मन मानस में।
भँवर मनोरथ न आय भरमावे मोहिं॥
आशा-पाश टूटैं गांठ छूटैं भव बन्धन की।
कलुषित-कामना न कबहूँ सतावे मोहिं॥
'रघुनाथ' रहनि सहनि लहै साधुना की।
वृन्दावन-भूमि चूमि हियरे लगावे मोहिं॥
दाऊ जू दया निधान ऐसो वर दान देहु।
जाते व्रज छैल कान्ह प्यारो अपनावे मोहिं॥



भक्ति देहु भक्ति के बढ़ाइवे की शक्ति देहु।
आछी अनुरक्ति देहु भक्तन के भाउकी॥
गति देहु सुभग सुहावनी सुमति देहु।
चारु चतुराई देहु चाहनि के चाउकी॥
वश हेतु मन पर प्रेम को सुरस देहु।
हँसि देहु दरश दुहाई बलदाउ की॥
करहु सनाथ 'रघुनाथ' की विनै को सुनि।
प्यारे व्रज छैल लाज राखो निज नाउकी॥

—कविवर श्री रघुनाथ



# धर्म का स्वरूप

## धर्म की उपयोगिता

[ ले० - श्रीयुत सर एस० राधाकृष्णन वाइस चांसेलर हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी ]

आज हम जिस युग में रह रहे हैं वह युग युद्ध, युद्ध की ज़बरदस्त तय्यारियों और उनके राजनैतिक तथा आर्थिक दुष्परिणामों का युग है। यह विचारों का नहीं शब्दों का युग है। हम बुलन्द आवाज़ में नारों को दुहराते हैं और समझते हैं कि हम सोच रहे हैं। प्रचार की कला चारों ओर से हमारे दिमाग़ों पर असर डालती रहती है। हम सिनेमा पर पलते हैं और रेडियो की शिक्षा पाते हैं। दूसरे व्यक्ति हमारे लिये सोचते हैं और हम सोच-विचार की परेशानी से बच जाते हैं। हमारा ज़ीवन बिल्कुल मशीनों की तरह हो गया है। यदि कोई व्यक्ति राजनैतिक दलों द्वारा निश्चित की हुई नीति से सहमत नहीं होता और राजनीति की अपेक्षा दूसरे व्यापक सिद्धान्तों पर अधिक विश्वास रखता है, तो उसे आफ़त समझकर जड़ से उखाड़ देने की ज़रूरत समझी जाती है। यदि मैं यह कहूँ कि हमारे व्यक्तित्व को ही चकनाचूर किया जा रहा है तो मैं ग़लत नहीं हूँ।

व्यक्ति जीवन की अन्तिम सचाई है। समाज का उद्देश्य व्यक्ति के गुणों को उन्नत बनाना है, उसे सुसंस्कृत करना है। व्यक्ति के दिमाग़ी सदाचार, उसके स्वभाव की उदारता और दया से ही उसकी उन्नति का अन्दाज़ा लगाया जायगा। किन्तु अपने पड़ोसी के साथ उदारता के व्यवहार का यह अर्थ नहीं कि पड़ोसी को तुम अपनी तरह बना लो। उसे उसकी तरह होने का अवसर दो। वह तुमसे भिन्न व्यक्ति है। तुम्हारे दिमाग़ी वस्त्र शायद दूसरों को ठीक न बैठें और तुम्हारे आध्यात्मिक भोजन से मुमकिन है दूसरे को सन्तोष न हो। उसका अपना एक अलग व्यक्तित्व है। उसे अपनी असफलताओं की तकलीफ़ और सफलताओं की खुशी अनुभव करने का अवश्य मौक़ा मिलना चाहिये। उसे अपने

लिये दूसरे व्यक्तियों से अनोखा और भिन्न होना चाहिये। जीवन व्यक्तित्व के साथ ही शुरू होता है और बहुत दरजे तक व्यक्तित्व के साथ ही समाप्त होता है। यदि हम किसी व्यक्ति से उसकी कल्पना और उसकी साहसपूर्ण निर्माण की क्षमता और अपने समकालीन लोगों पर उस व्यक्ति की दिमाग़ की छाप को हटालें, तो हम एक बड़ी हद तक इतिहास के रुख को ही बदल देंगे।

कलापूर्ण जीवन और मशीन के समान जीवन में एक बड़ा अन्तर है। राजनीति और अर्थशास्त्र चाहे उन समस्त सुविधाओं को एकत्रित कर दें, जो जीवन के लिये आवश्यक हैं, किन्तु हम अच्छी तरह जीवित रहना चाहते हैं। एक विशेष उद्देश्य के लिये जीवित रहने में ही जीवन का सच्चा सुख है। क्या यह मैं समझूं कि शिक्षक, कलाकार और दार्शनिक हमें जीवन की कला सिखाने और जीवन को गतिविधि देने के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों से भी अधिक हमारे उत्तम पथ-निर्देशक हैं और इस सम्बन्ध में हमें उनसे अधिक मदद मिलती है ?

**यदि इस देश का कोई सांस्कृतिक सन्देश है, तो वह राजनीति या अर्थनीति में नहीं है, वल्कि दर्शन और धर्म में है।** हमारे देश के इतिहास की विशेषताएँ राजा, सम्राट्, लड़ाइयें या युद्ध नहीं हैं, वल्कि ऋषि और धर्म-ग्रन्थ हैं। सदा से ही भारत ने सैनिकों और राजनीतिज्ञों, या वैश्यों, और व्यापारियों अथवा कवि और दार्शनिकों की जिन्होंने अपने शब्दों और कृत्यों से दुनिया को प्रभावित किया है, उतनी कद्र नहीं की, जितनी उन तपस्वी आत्माओं की, कि जिनकी महत्ता इस वात में नहीं है कि वे क्या कहते थे, वल्कि इसमें कि वे स्वयं क्या थे; ऐसे व्यक्ति जिन्होंने हमारे देश के विचारों और जीवन पर असीमता की छाप लगाई, और जिन्होंने दुनिया में भलाई के अप्रकाश्य गुणों को वढ़ाया। उन्होंने ऐसी दुनिया को, जो शक्ति और सांसारिक सुख की पुजारी है, पारलौकिक सत्य और आत्मा के रहस्य के दर्शन कराये। वावजूद अपने पतन और ग़रीबी, अपनी ग़ुलामी और अपने त्याग के भारत आज भी ज़बर्दस्त आत्मिक-वल का प्रदर्शन कर रहा है।

ज़रा इतिहास के पन्नों को उलटाइये और फिर वताइये कि आपको उनमें क्या दिखाई देता है ? यही न कि क़ौमें और सभ्यतायें अनन्त और अनश्वर नहीं होतीं। वे फूलती हैं, फलती हैं, गिरती हैं और नष्ट हो जाती हैं। महान् यूनानी सभ्यता का जीवन काल केवल ८०० वर्ष था, रोम की सभ्यता केवल ९०० वर्ष तक ही क़ायम रह सकी और वाइजेण्टिअम (पूर्वीय रोमन) सभ्यता मुश्किल से हज़ार वर्ष ज़िन्दा रही। वाइजेण्टिअम सभ्यता के वाद वर्त्तमान सभ्यता के अभी से नाश के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इस सब का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ यह है कि ऐसी सभ्यताएं जो सांस्कृतिक और धार्मिक सिद्धान्तों को अधिक महत्व देती हैं, वे अधिक काल तक जीवित रहती हैं और जो महज़ शक्ति, तर्क और भौतिक-उन्नति पर ही ज़ोर देती हैं, वे अधिक काल तक जीवित नहीं रहतीं। ईसा ने कहा है —धन्य हैं वे नम्र आत्माएं क्योंकि संसार अन्त में उन्हीं का है। संसार पर अन्त में असंसारियों का ही प्रभुत्व होगा।

शहरों और राष्ट्रों से भी अधिक अन्य वातों का मूल्य होता है। हमारे इस देश ने सामयिक वस्तुओं को कभी महत्व नहीं दिया। अनन्त की भावनाओं को ही उसने सदा अपना लक्ष्य वनाया

है। यह हमारी विशेषता है और हमारी कीर्ति का विषय है कि प्रत्येक युग में और देश के हर भाग में हमने ऐसी महान् आत्माएं पैदा की हैं, जिन्होंने इस उच्च आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ किया है। आज भी हमारे देश में ऐसी महान् आत्माएं मौजूद हैं, जो दावे के साथ इस बात का प्रचार करती हैं कि हिंसा की राजनीति से संसार का उद्धार तभी होगा, जब हम अनन्त पर विश्वास रखें और घृणा की जगह प्रेम के सिद्धान्त को अपनाएँ।

इस तरह के व्यक्ति मौजूद हैं, जो कहते फिरते हैं कि धर्म हमारे लिये अभिशाप रहा है, हमारी मानवता पर इसने पाले का काम किया है, इसने समाज की उन्नति को रोक दिया है और जितना शीघ्र हम इस धर्म से छुटकारा पायें हमारे लिये उतना ही कल्याणकर है। ये लोग धर्म को जीवन के सिंहासन से उतार फेंकना चाहते हैं। ये लोग कहते हैं हिटलर की इस सफलता को देखकर हम धर्म पर कैसे विश्वास करें। वे प्रश्न करते हैं कि 'क्या ईश्वर कहीं हैं?' क्या धार्मिक होने में कोई लाभ है?' 'क्या यह उचित है कि असंख्य मनुष्य अपना आत्म-विश्वास खोकर धर्म का सहारा लेकर रीढ़ की हड्डी तुड़वालें?' मैं केवल इसी बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि वास्तविक अर्थों में धर्म जीवन से भिन्न वस्तु नहीं है। अध्यात्म को सदा दैनिक जीवन में उतारा जा सकता है। हम जीवन के अमर सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकते। राजनैतिक परिस्थितियों और आर्थिक मांगों से उनका कहीं विरोध नहीं होता। फ़र्ज़ कीजिये हमारा आर्थिक जीवन संगठित हो जाय और म्युनिसिपैल्टियां हमारे लिये अच्छी सड़कें, मुफ्त पानी और उम्दा रेडियो सेटों का प्रबन्ध कर दें, तो क्या हम पूरे सुखी और संतोषी बन सकेंगे? क्या संसार के समृद्ध और धनी मनुष्य आज सबमें ज्यादा दुखी नहीं हैं? अमरीका में आत्महत्या करनेवालों का बहुमत धनी धोरी व्यक्तियों का होता है। धन जीवन की जिन सुविधाओं और आशाइशों को ख़रीद सकता है, उन्हें प्राप्त करते ही क्या हमारे अन्दर से ईर्षा, मूर्खता, अभिमान और नफ़रत का अन्त हो सकता है? उस समय भी व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता को मूर्खता और स्वार्थ नष्ट कर देंगे। जीवन में आर्थिक सिद्धान्तों के अलावा और भी दूसरे सिद्धान्त हैं। भौतिक वस्तुओं की बहुतायत ही सुख की कुञ्जी नहीं है।

प्रत्यक्ष वस्तुओं के अतिरिक्त मनुष्य का जीवन कहीं अधिक ऊंची बातों के लिये है। सत्य की तलाश व आन्तरिक सौन्दर्य के सृजन और आत्मज्ञान के लिये मनुष्य भूख और प्यास सहता है, शरीर को कष्ट देता है और लम्बी-लम्बी तीर्थ-यात्राएँ करता है। हम इसे उसका क्षणिक खब्तीपन कह कर नहीं टाल सकते लोगों के आराम और सुखी जीवन को ध्यान में रखते हुए जब हम दुनियाँ का संगठन करें, तो हमें इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिये कि हम उनके दिमाग़ में प्रेम की भावना भरें और जीवन के अमर सिद्धान्तों की ओर उनकी आस्था पैदा करें।

मेरा यह विश्वास है कि जीवन के लिये भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठ सन्देश न केवल बाहरी दुनियाँ के लिये उपयोगी है, बल्कि हमारे देश में भी इसके दोहराने की जरूरत है।

# युद्धांक के विषय में

[ महामहोपाध्याय श्री पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ]
व्याकरणाचार्य; प्रिंसिपल संस्कृत कॉलिज जयपुर

'मानव धर्म' के युद्धांक की विषय-सूची मैंने अवधान से पढ़ी। मुझे बिना किसी पक्षपात के निःसंकोच यह कहना पड़ता है कि जैसी यह 'युद्धाङ्क' निकालने की सूझ एक निराली सूझ है वैसी ही यह विषय-सूची भी अपने महत्व में एक निराली है। इस विषय-सूची के सब विषयों पर यदि लेख प्रस्तुत हो जाँय, तो यह विशेषाङ्क साहित्य-क्षेत्र में एक अद्भुत वस्तु बन जाय। दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में भारतीय विद्याओं का अल्पप्रचार होजाने के कारण इतने विषयों पर इतने उत्तम लेखक मिलना अति कठिन अवश्य हो गया है, किन्तु 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—

इस न्याय से जितना भी कुछ संग्रह हो सकेगा वह इस विशेषांक के महत्व के लिए कम न होगा ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। जो कुछ भी हो हम तो इतने महत्व की विषय-सूची प्रस्तुत करने के लिए ही संपादक महोदय को बधाई देते हैं कि उनने विद्वत्समाज का ऐसे महत्वपूर्ण विषयों की ओर ध्यान तो आकृष्ट किया। जब विषय-संकलन में उन्हें इतनी सफलता मिली है तो लेखसंकलन में भी मिलेगी ही।

'आध्यात्मिक युद्ध' और 'आधिदैविक युद्ध' की विषय-सूची बहुत बड़े मानस-श्रम से तैयार की गई है, अवश्य ही इन दोनों के विषय परस्पर संकीर्ण हैं 'महिषासुरमर्दन 'त्रिपुर विनाश' आदि आध्यात्मिक-युद्ध में भी आ सकते हैं, और 'विश्वामित्र और वशिष्ठ का युद्ध' 'महादेव का मदन-दहन' आदि विषय आधिदैविक-युद्ध में भी जा सकते हैं। साथ ही इन सब विषयों में आधिभौतिक तथ्य कितना है यह भी एक विचारणीय विषय बन जाता है। इन सब विषयों पर मार्मिक विवेचन करते हुए मान्य विद्वान् यदि अपने निबन्ध प्रस्तुत करेंगे तो यह अंक भारतीय विद्याओं में नव जागरण शक्ति पैदा करनेवाला सिद्ध हो जायगा।

यह त्रुटि अवश्यमेव खटकती है कि इतने महत्वपूर्ण निबन्धों के लिए संपादक महाशय समय बहुत थोड़ा दे रहे हैं। अल्प समय में इतने महत्व के निबन्ध तैयार होना असंभव नहीं तो भी अतिकठिन अवश्य हैं। अस्तु, तथापि विद्वान् महानुभावों को अवश्यमेव यथाशक्ति इस लोकोपयोगी कार्य में श्रम करना चाहिये और यदि किसी विद्वान् को गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखने में विलम्ब लगे, तो उसकी सूचना मिलने पर संपादक महाशय को भी उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए।' मैं इस आयोजन की सफलता सर्व-शक्तिमान् भगवान् से चाहता हूँ।

# मानवता और नूतन सभ्यता का युद्ध

[ लेखक—श्री १०८ त्यागमूर्ति गोस्वामी गणेशदत्तजी महाराज ]

आज मानवता की नाड़ी चंचल हो उठी है। खून का दबाव ( Blood Pressure ) बढ़ गया है और वह कान्तिहीना भ्रमित भ्रमित सी एक ओर बैठ गई है। मानवता की सुन्दरता की तह में चाहे सरसता और आकर्षण हो, पर ऊपर से आज उस पर धूल पड़ गई है, हाव-भाव और शृंगार की चमक-दमक जिसे आज का मानव देखना चाहता है वह उसमें होते हुए भी नहीं दीखती।

इस युग की सबसे बड़ी देन है बनावट – फैशन में बनावट, पॉलिसी में बनावट, बात बात में बनावट, मनुष्य में बनावट और धर्म में बनावट। झोंपड़ियों की जगह महल बने, कुओं के स्थान पर नल लगे, बिजली की चक्की चली, पंचायतों के स्थान पर कौंसिल बनी, रथों के स्थान पर टैंक बने, जाने क्या क्या बना और बनते बनते मानव दानव बना। मानवता पर दबाव पड़ा और वह तिलमिला उठी। मानवता के साथी पीछे हटे, नूतन-सभ्यता देवी के कटाक्ष ने उनका आकर्षण किया। वे कुछ आकर्षण से, कुछ प्रलोभन से, कुछ भय से और कुछ देखा देखी भेड़ चाल से मानवता से दूर हो नूतना देवी की शरण में आये।

मानवता की देवी ने न कोई विरोध किया और न वह निराश ही हुई। नूतना देवी ने बार बार उस पर प्रहार किया, कोसा, दुतकारा परन्तु वह ज्यों की त्यों अटल थी। उसकी प्रतिभा, साहस और शक्ति एक आश्चर्य था।

नूतना की इच्छा और वासनाएं कभी तृप्त ही नहीं होती थीं। उनकी पूर्ति स्वयं ही एक संघर्ष बन गई और उस संघर्ष में विश्व कुचला जाने लगा, एक हा हा कार मच उठा। निरपराध भोले प्राणियों का संहार, भीषण हत्या, बीभत्स कांड से संसृति सिहर उठी। एक बार फिर सबने मानवता की ओर देखा और उसके आदेश की प्रतीक्षा करने लगे।

मानवता मुस्कराई और उसने कहा—"बनावट अस्थिर है, उसमें बाहरी आडम्बर है परन्तु भीतर पोल है। उसमें सुख है परन्तु अन्त में दुख देने वाला तामसी उसका स्वरूप है। यह स्वयं ही अपनी वासना की अग्नि में जलकर भस्म हो जाती है। नूतना बनावट की प्रतिमा है उसका अन्त उसके निर्माण के साथ ही हो चुका था, मिट्टी की मूर्ति मिट्टी है और हीरे की कणी फूटने पर भी हीरा ही रहती है।

मानवता का आश्वासन पाकर जलते हुए संसार को शान्ति मिली। पर नूतना की नित्य नयी चालों से वह दुखी था। जिसके हाथ में वह मानवता का झंडा देखती उसी के पीछे पड़ जाती और उसे प्राण लेकर भागना पड़ता।

मानवता ने सन्देश दिया कि विश्व के संघर्ष में पीछे हटना पाप है। उसने अपने अनुगामियों को ध्यान दिलाया कि इस दानवी लीला को समाप्त करने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि सब अपने-अपने कर्तव्य का सच्चाई से पालन करें। याद रहे कि—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पाप मवाप्स्यसि॥

सत् और असत्, वास्तविकता और बनावट, सुख और दुःख, अहिंसा और हिंसा का संसार में सदैव संग्राम होता रहता है। मानव! यदि तू इस धर्म युद्ध से मुख मोड़ेगा तो निश्चय समझ कि तू असत्, बनावट, दुःख, हिंसा आदि का शिकार हो जायगा, तू मनुष्य जीवन के साथ वह अन्याय करेगा जिसके पाप का कोई प्रायश्चित नहीं है। तेरे यश और धर्म धूल में मिल जायेंगे और तू पापी बनेगा।

**यदि तू गृहस्थी है** तो गृहस्थ धर्म का पालन कर! तेरे मार्ग में कितनी ही बाधाएँ आयें, प्रलोभन मिलें, आसानी हो, कुछ भी हो पर गृहस्थी के धर्म न छोड़ना। संसार चाहे तुझे कुछ भी कहे, नूतना तेरे पास आये या न आये, तात्कालिक उन्नति दिखे या न दिखे परन्तु तू अपने कर्तव्य-पथ से विचलित न होना। मानवता तुझे पथ दिखलायेगी और विजय तुझे जयमाला पहनायेगी।

**यदि तू सुधारक, उपदेशक या नेता है** तो सतत स्वार्थहीन अनथक प्रयत्न से बढ़ता जाना। संसार तुझे कितना ही घेरे, कितना ही प्रलोभन दे, नाम करे या बदनाम करे, भिखमंगा कहे या अभिमानी कहे, कुछ भी कहे परन्तु अपने पथ से विचलित न होना। यह मार्ग सबसे भयंकर है। बड़े बड़े ऋषियों ने, महर्षियों ने और नेताओं ने गाली खाई हैं, पत्थर खाये हैं, अपमानित हुए हैं, जेल में डाले गये हैं परन्तु उन्होंने अपना कर्तव्य नहीं छोड़ा।

**यदि तू साधक है** तो साधना से विचलित न होना। जगत् के मिथ्या सुख, कीर्ति की कामना, इन्द्रियों की प्रबलता, स्वार्थ के सर्प और अहंकार की हुङ्कार तुझे विचलित करने के लिये बार बार युद्ध करेगी। तुझ पर प्रहार पर प्रहार होंगे पर पीछे न हटना।

**तू कोई भी है** जो तेरा निश्चित कर्तव्य हो उस पर तन से, मन से, धन से, कर्म से, वचन से आरूढ़ रहना। कितना ही युद्ध करना पड़े, जान जाये या रहे, सुख मिले या न मिले, प्राणों तक को न्यौछावर करना पड़े पर पीछे मत हटना। इस धर्म-युद्ध में विशेषता यह है कि—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्

यदि संघर्ष करते करते तू जीवित रहा और विजयी हो गया तो तू सुख से अपने संसार पर शासन करेगा, सिद्धि का सुख भोगेगा और यदि लड़ते लड़ते काम आ गया तो इस शरीर का सदुपयोग करके अमरता को पायेगा।

मानवता का आज नूतना देवी से युद्ध हो रहा है, इस समय पीछे हटना पाप है। दानवता को दबाते हुए हमें अपना पथ खोजना है। इसी में जीवन है और इसी में जीवन का सुख।

आशा है कि इसी पथ की रूपरेखा दिखाने के लिये युद्धांक निकाला जा रहा है।

**अपने मित्र दिनेश जी को मैं बधाई देता हूँ कि उन्होंने ठीक ऐसे समय में जब मनुष्य निराश, दुखी और हतोत्साह होकर अपने कर्तव्य के संग्राम से पीछे हट रहे हैं, यह युद्धांक निकालने का विशाल, अनुभव पूर्ण और लाभकारी आयोजन किया है। युद्धांक की जो विषय-सूची है उससे विदित होता है कि ऐसा प्रयास कभी किसी ने नहीं किया था। युद्धांक अपनी उपयोगिता से ऊंचा स्थान पायेगा यह मेरा विश्वास है।**



# धर्म और मानवता

[ लेखक—श्रीयुत सिद्धगोपाल 'सिद्धान्त-रत्न' 'साहित्य-वाचस्पति' ]

प्रायः देखा जाता है कि हमारे बहुत से शिक्षित भाई धर्म के नाम से अत्यन्त चिढ़ते है। वे कहते हैं—'धर्म के नाम पर संसार में इतने अत्याचार हुए हैं, जिनका अनुमान लगाना कठिन है। धर्म के नाम पर इतनी हत्यायें हुई हैं, कि यदि उनकी हड्डियां इकट्टी की जायें तो संसार की सारी मीनारों से उनका ऊंचा ढेर हो जायगा। संसार के इतिहास में लोग जीवित जला दिये गये, जातियां एक दूसरे के खून की प्यासी बनीं—इसी धर्म के नाम पर।

आज से चार सौ वर्ष पहले का योरुप का इतिहास धार्मिक मतभेद के रक्त से रंगा हुआ है। जिसमें रोमन कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों के संघर्ष विश्व-विख्यात हैं। भारतवर्ष में भी धार्मिक मत-भेद के कारण इतनी कलह और ईर्षा रही है कि जिसके परिणाम स्वरूप यहां की राष्ट्रीयता सर्वथा अस्त व्यस्त हो गई है।

आज धर्म के कारण हिन्दू मुस्लिम दंगे होते हैं। धर्म के कारण लाखों मूक प्राणियों की नित्य-प्रति हत्या होती है, इसी धर्म के कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मनुष्य नहीं समझता, इसी धर्म के कारण पाप, पाखण्ड और अन्ध-विश्वास की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। धर्म के कारण ही जुआ, चोरी, व्यभिचार, छल, फरेब आदि दुर्गुणों का बोल बाला है। यह धर्म मानव समाज का भयंकर शत्रु है, जिस दिन यह धर्म नामक जन्तु संसार से विदा हो जायगा, उसी दिन मानव मण्डल निर्मल हो जायगा।'

मैं इस प्रकार के विचार रखनेवाले बन्धुओं से विनम्र निवेदन करूंगा कि वे जितने भी दोषों का वर्णन करते हैं, वे वास्तव में धर्म के नहीं हैं, बल्कि 'अधर्म' और मत-मतान्तरों के हैं। धर्म और चीज है और 'मत' 'पंथ' 'मजहब' या (Religion) और चीज हैं। इसमें संदेह नहीं, कुछ लोग इसको धर्म का ही पर्याय समझते हैं। पर वस्तुतः धर्म और मत-मतान्तरों में उतना ही अन्तर है जितना कि पृथ्वी और आकाश में। जैसे—'शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धवती पृथिवी" में आकाश का गुण शब्द भी वर्तमान है, उसी प्रकार मत-मतान्तरों में धर्म का अंश तो विद्यमान है, परन्तु मत-मतान्तर पूर्णतया धर्म नहीं हैं। आप कहेंगे क्यों? इसलिये कि धर्म का आधार बुद्धि, तर्क, सदाचार, सृष्टि नियम, तथा स्व-भाव है, परन्तु मत, पंथ और मजहबों का आधार विश्वास, नबी, गुरु आदि हैं।

उदाहरण के लिये एक व्यक्ति सदाचार के नियमों का निरंतर पालन करता है, और ईश्वर का भक्त है, परन्तु वह हजरत मुहम्मद को खुदा का पैगम्बर नहीं मानता, तो वह ईश्वर-भक्त और सदाचारी होते हुए भी मुसलमान नहीं कहला सकता। मुसलमान होने के लिये यह आवश्यक है कि वह हजरत मुहम्मद को खुदा का रसूल अवश्य माने। इसी प्रकार ईसाई होने के लिये ईसा, बौद्ध होने के लिये बुद्ध, जैनी होने के लिये जिनदेव और सिख होने के लिये गुरुओं को मानना अत्यन्त आवश्यक है, इन मत-प्रवर्त्तकों के माने बिना कोई व्यक्ति उस मत या

मजहब का अनुयायी नहीं कहला सकता। परन्तु सत्य सनातन वैदिक-धर्म किसी व्यक्ति विशेष की आवश्कता नहीं रखता। सनातनधर्म में जो भी व्यक्ति सदाचारी, परोपकार-प्रिय, बुद्धिमान् और सृष्टि-नियमों का पालन करने वाला है, वह 'धर्मात्मा' है; चाहे वह किसी भी देश, जाति और समाज से सम्बन्ध क्यों न रखता हो। वह किसी व्यक्ति विशेष के बन्धनों में बंधा हुआ नहीं है, वह सदाचार और लोक-कल्याण की भावना से सम्बद्ध है।

संसार में जितने भी झगड़े हुए, वे सदाचार और परोपकार के कारण नहीं हुए, वल्कि अन्ध-विश्वास, स्वार्थ और 'मजहबी जनून' के कारण हुए।

थोड़ी देर के लिये यही मान लें कि धर्म के नाम पर ही अत्याचार हुए हैं, तो धर्म के नाम पर होने-वाली घटनाओं को धर्म मान लेना, या धर्म को दोषी मान लेना कहां का न्याय है?

यदि किसी दुकानदार ने सोने के बदले मुलम्मे का जेवर किसी ग्राहक को दे दिया है, और झगड़ा हो रहा है, तो यह दोष देनेवाले का है, अथवा सोने का है? कोई कहने लगे—'अजी दिया तो सोने के नाम पर ही है, अतएव यह दोष सोने का ही है।' मैं पूछता हूँ कि क्या यह समझदारी की बात है? भूखे मनुष्य को रेत फांकता देख कर भोजन से घृणा करने लगना सिवाय अज्ञानता के और क्या है? कछुए के काटने पर यमुना नदी को ही सुखा डालने का विचार बुद्धिमत्ता का द्योतक नहीं है। इसी प्रकार धर्म के नाम अत्याचार होने के कारण धर्म को न मानना मनुष्य का धर्म नहीं है, धर्म का शुद्ध स्वरूप प्रदर्शित करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

**एक और बात—**

देखो! अनेक लोगों ने नकली घी, नकली रेशम, नकली सोना, नकली रुपया आदि आदि अनेक नकली चीजें बनाईं, परन्तु क्या कभी किसी ने नकली 'कूड़ा कर्कट' भी बनाया है? हर्गिज नहीं। संसार का यह नियम है कि उपयोगी और मूल्यवान् चीज ही नकली बनाई जाती है। अज्ञानी मनुष्य उसे असली समझ कर खरीद लेते हैं और धोखा खाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें असली वस्तु से प्रेम नहीं है, प्रेम तो है पर वे उसकी परीक्षा नहीं कर पाते। यही बात धर्म के विषय में लागू होती है। धर्म के नाम पर जो अनेक छल, प्रपंच और पापाचार होते हैं, उनसे पता चलता है कि धर्म अत्यन्त उपयोगी वस्तु है। उसको लोग चाहते हैं, पर अज्ञानतावश धर्म के बदले उन्हें अधर्म पल्ले पड़ता है।

यह कहना कि धर्म को संसार से विदा कर देने पर सुख शान्ति मिल सकती है—सरासर भूल है। बिना धर्म के संसार एक दिन भी स्थिर नहीं रह सकता। धर्म संसार को धारण करता है, और संसार धर्म को धारण करता है।

"धारणाद्धर्मं इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
(महाभारत)

बिना धर्म के धर्मी की सत्ता रहनी ही असम्भव है। कोई वस्तु अपने धर्म को छोड़कर पुनः वही वस्तु बनी रहे, यह कैसे हो सकता है? जब तक संसार में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि पदार्थ विद्यमान हैं, तब तक उनका शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध धर्म भी रहेगा ही। रोग न हो तो रोगी कैसा? लोभ न हो तो लोभी कैसा? मान न हो तो मानी कैसा? ज्ञान न हो तो ज्ञानी कैसा?

ध्यान न हो तो ध्यानी कैसा ? पशुता न हो तो पशु कैसा ? और मनुष्यता न हो तो मनुष्य कैसा ? यह मनुष्यता या मानवता ही तो 'मानवधर्म' है।

## यह मानवता है क्या ?

यह मानवता 'विचार शक्ति' है, जो मानवेतर प्राणियों में नहीं है। मानव अपनी 'विचारशक्ति' अथवा अपने धर्म द्वारा न केवल प्राकृतिक जगत् पर प्रत्युत समस्त प्राणीवर्ग पर शासन करता और कर सकता है। इस 'विचार-शक्ति द्वारा ही मनुष्य आत्म-अध्ययन और आत्म-दर्शन कर सकता है। परन्तु जैसे आग के अंगारे पर राख पड़ जाने से अग्नि का तेज दबा रहता है। उसी प्रकार मनुष्य का धर्म अज्ञान और अविद्या के आवरण के कारण दबा रहता है। जैसे वायु के झोंके से राख उड़ जाती है, और अग्नि का तेज चमकने लगता है, उसी प्रकार परिस्थिति उत्पन्न होने पर मनुष्य का धर्म उदय हो जाता है। मनुष्य की इस 'विचार-शक्ति' अथवा स्वाभाविक धर्म ने ही व्यावहारिक धर्म को जन्म दिया है। यह व्यावहारिक धर्म ही लोक-परलोक की उन्नति का साधन है। इस व्यावहारिक धर्म के भिन्न-भिन्न शास्त्रों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के लक्षण किये हैं।

परन्तु सबका उद्देश्य एक ही है, और वह है— 'लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति।'

वेद भगवान् का मानव-मण्डल को उपदेश है—

'पावमानीर्दधन्तु न इमे- लोकमथो असुम्,
कामान्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृता।
पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम्,
पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति।'
( सामवेद उत्तरार्चिक प्र० ५ मं० ८ )

अर्थात् सर्व प्रकाशक प्रभु हमें दिव्य गुण दें, ताकि हम इस लोक और परलोक को पवित्र करें। विद्वान् पुरुषों के सहयोग से हमारी कामनाओं को उन्नतिशील अर्थात् पूर्ण करायें। जितने हमारे स्थान हैं, पवित्र हों, उन स्थानों से प्रसन्नता प्राप्त हो, पुण्य रूप भोग्य पदार्थों को हम भोगें और मोक्ष प्राप्त करें।

वेद के इन मन्त्रों से प्रकट है—जिससे ऐहलौकिक और पारलौकिक उन्नति होती है जिनसे विद्वानों का सहयोग, सत्संग और समस्त साधन पवित्र होते हैं, जिनसे समस्त भोग्य पदार्थ और मोक्ष प्राप्त होते हैं, उन्हीं गुणों का समुच्चय 'व्यावहारिक-धर्म' है। वेद के इसी आशय को वैशेषिक दर्शन के कर्त्ता महर्षि कणाद ने इस प्रकार वर्णन किया है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस ( मुक्ति ) प्राप्ति हो वह 'धर्म' है। मनुस्मृति में—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥'

अर्थात् धैर्य, क्षमा, मन को वश में करना, चोरी न करना, सब प्रकार से पवित्र रहना, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि की वृद्धि करना, सत्य ज्ञान को प्राप्त करना, सत्य का पालन करना, क्रोध न करना, यह धर्म के १० लक्षण प्रतिपादित किये हैं। दूसरे स्थान पर मनु महाराज ने लिखा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्,
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः।

अर्थात् मनुष्य सत्य बोले, परन्तु प्रिय बोले, जहां तक बने सत्य को अप्रिय रूप में कभी न बोले। और जो बात असत्य हो, वह कितनी ही मधुर क्यों न प्रतीत हो तो भी न बोले, यही सनातनधर्म है।

इस प्रकार जितने भी शास्त्रों में धर्म के लक्षण देखे जाँयगे, सब का उद्देश्य मानवीय शक्तियों का विकास करना है। मैं पूछता हूं संसार में कौनसा ऐसा व्यक्ति है, जो मानवीय शक्तियों का विकास नहीं चाहता? पश्चिम के वे लोग जिन्होंने धर्म और ईश्वर से पहले विरोध किया था, आज धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा प्रकट कर रहे हैं।

जब सन १९२७ ई० में शिकागो में सर्व-धर्म सम्मेलन हुआ, उसमें सभी मतों के प्रतिनिधि विद्वान् और वैज्ञानिक उपस्थित थे। उस में यह विचार रखा गया कि—"संसार का भावी धर्म क्या होगा?" कई दिनों के विचार के पश्चात् वैज्ञानिक विद्वानों ने यह निश्चय किया कि संसार का भावी धर्म वही होगा जिस में निम्नलिखित चार बातें पाई जावेंगी।

१—Equality; (समानता का भाव)

२—Universal Brother hood (विश्वव्यापी भ्रातृभाव)

३—Harmonious Development (सर्वाङ्गीण उन्नति के साधन)

४—Scientific Basis (वैज्ञानिक आधार)

इन उपरोक्त चारों बातों पर विचार करने से पता चलता है कि—

भविष्य में सदा चलता रहनेवाला और सदा एक रस रहनेवाला शुद्ध सनातन-धर्म ही संसार के सारे मतमतांतरों और वैज्ञानिकों का धर्म होगा। क्योंकि हमारे धर्म का वही ध्येय है, जो शिकागो सम्मेलन में वैज्ञानिक और विचारकों ने भावी धर्म के सम्बन्ध में बतलाया है। जिस दिन संसार धर्म के इस वास्तविक स्वरूप को समझ जायगा, उसी दिन संसार में सुख एवं शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जायगा।

आज विश्व में महा भयानक संघर्ष हो रहा है, आज कहीं सुख और शान्ति दिखाई नहीं देती। कारण यही है, लोग धर्म को भूले हुए हैं। संसार की सभ्य कहलानेवाली जातियां आज मनुष्यता का खून कर रही हैं। पता नहीं भविष्य में इस का क्या परिणाम निकलेगा। इस संग्राम में कौन कौन सी जातियां जीवित रहेंगीं, और कौन २ सी नष्ट हो जावेंगीं, इसे सिवा भगवान् के और कौन जान सकता है हम तो यही कहते हैं—

विश्व-व्यापी आज होरहा है घमासान युद्ध,
मारते हैं एक दूसरे को और मारेंगे।
ज्ञान इसका न मुझे जो मैं बतलादूं यहां,
कौन लोग जीतेंगे औ कौन लोग हारेंगे।
लेकिन 'गोपाल' कवि इतना तो जानता है,
होकर मनुष्य जो मनुष्यता बिसारेंगे।
पायेंगे न चैन दिन रैन वे मरें या जियें,
चैन पायेंगे वे प्राण धर्म पै जो वारेंगे।



# व्यावहारिक धर्म

## कर्म कैसे हो ?

[ लेखक—श्रीयुत दुर्गादत्तजी लोहिया आसाम ]

विश्व का रंगमंच मनुष्य को अपनी भावना और दृष्टि-कोण के अनुसार सुन्दर, भयानक, आनन्द-रूप अथवा मिथ्या मायामय दीखता है। भावना और दृष्टि दिव्य भी हो सकती है और संकुचित भी। जैसा जिसका चरित्र होगा, वैसी ही उसकी भावना और दृष्टि होगी। चरित्र की निर्मलता का शीशा जितना साफ होगा उतनी दूर तक गहराई में दृष्टि जा सकेगी। मनुष्य धन से बड़ा नहीं होता, बल से बड़ा नहीं होता, विद्या से बड़ा नहीं होता वह बड़ा होता है चरित्र से। धन के साथ जिसमें चरित्र हो वह धनवान् बड़ा है, बल के साथ चरित्र होने से बलवान् बड़ा है और विद्या के साथ चरित्र होने से विद्यावान् बड़ा है। मनुष्य का चरित्र उसका वह भावचित्र है जो सुख-दुःख, हानि-लाभ द्वन्द्वों की कलम द्वारा मानसिक वृत्तियों के पट पर कर्म की स्याही से खिंचकर उसके विचारों के आकार में संसार के सामने आता है। चरित्र के चित्र की सुन्दरता पर भगवान् भी रीझते देखे गए हैं।

चरित्र की रूपरेखा में कर्म की आभा होती है। कर्मों के रंग से चरित्र का रंग बनता है। कर्म की उज्ज्वलता ही चरित्र की उज्ज्वलता है और कर्म का फीकापन चरित्र का फीकापन है।

चरित्रवान् का छोटा कार्य भी दुनियां की दृष्टि में बड़ा होता है और चरित्रहीन का बड़ा कार्य भी दुनिया की दृष्टि में नहीं आता। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अर्घ्य ग्रहण करनेवाले योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने पैर धोने का कार्य स्वयं आग्रह करके अपने ऊपर लिया। अनन्त भक्तों के हृदय-देवता लीलाधर पुरुषोत्तम के इस चरित्र गुण पर मुग्ध मानवों के हृदय में भगवान् के इस चरित्र का चित्र अनन्त काल के लिये जग गया। और उन्हें जगत् को पावन करनेवाले समझकर संसार ने उनकी पूजा प्रारम्भ करदी। आज भी भगवान् अपने पास आनेवालों के पैर धोकर पाप पंक और माया का मल हटाते हुए भक्त का स्वागत करते हैं।

चरित्र के बल पर बड़े होनेवाले व्यक्ति ही बड़ाई के पात्र हैं। जो वास्तव में छोटे हैं जिनके चरित्र के चित्र में आकर्षण नहीं है वे अपने ऊपर दम्भ दिखावट और बनावट की कितनी ही रंग बिरंगी चादरें डालें पर संसार की आंखों में उनका स्थिर स्थान नहीं बन सकता।

मनुष्य समृद्ध होने के लिये हाथ पैर पटकता है, हजारों को धोखा देता है पर अन्त में भी जब समृद्धि नहीं मिलती तब वह अपने उसी जीवन को भार समझने लगता है जो चरित्रवान् होकर दूसरों का भार हरण कर सकता है।

मनुष्य अपनी शक्ति को भूल कर ही मनुष्यता से गिरता है। और अपने निर्माता का सिर नीचा कराता है। मनुष्य के दिव्य निर्माता ने विश्व का अनन्त ज्ञान उसके मस्तक में भरकर अपना गौरव समझा था। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव से उसे बहुत अधिक आशा थी। मानव को उत्पन्न करने में उसे अपनी कर्म कुशलता का गौरव था। वह चाहता था कि मनुष्य अपनी शक्ति और कर्म से मेरे काम में हाथ बटाकर मेरा प्रिय रहे, परन्तु इस संसार में आते ही अपने सुन्दर रूप, प्रतिभा सन्मान और बुद्धि का अभिमान हो जाने से मानव अपने बनानेवाले का काम भूलकर अपना काम ले बैठा। परिणाम यह हुआ कि उसके कर्म में जो कुशलता आनी चाहिये थी वह नहीं आ पाई उसने अपने संरक्षक, पालनकर्ता परम-पिता से उस विषय में पूरी शिक्षा प्राप्त नहीं की और वह अधूरा रह गया।

संसार में कर्म तो सभी करते हैं परन्तु अधिकांश में शक्ति का व्यय ही होता है। मनुष्य मनुष्यता के कर्म न करके धीरे धीरे अपनी वह अव्यय शक्ति, आत्मिक-बल और-ईश्वर-प्रदत्त बुद्धि को नष्ट कर देता है जिससे वह विश्व विजय करके यहां शासन करने आया था।

## कर्म कैसे करें

संसार की सारी विपत्तियां मनुष्य को उस समय घेरती हैं जब वह केवल अपने सुख के लिये कर्म करता है। यह भी नहीं हो सकता कि मनुष्य अपने सुख को कुचल कर कर्म करे। सुख और आनन्द प्राप्त करना मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है।

अब प्रश्न यह उठता है कि अपने सुख के लिये कर्म किया न जाय और अपने सुख को कुचला न जाय ये दोनो बातें एक साथ कैसे निभ सकती हैं। कर्म-योग का प्रसिद्ध धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् हमें यह बताती है कि कर्म करो—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'

कर्म करने का सबको अधिकार है। इसके अनुसार जब हमें कर्म करने का अधिकार है तो हम कैसा भी कर्म करें पाप कर्म या पुण्य कर्म, चोरी, जूआ, झूठ आदि का कर्म सब कर्म ही तो हैं। फिर दोष क्यों ?

इसका पहला उत्तर तो यह कि बुरे कर्मों में—चोरी, झूठ, जूआ, अपकार, विश्वासघात आदि के कर्मों में मनुष्य पूरी शक्ति से कर्म नहीं कर सकता। उसका अन्तःकरण बुरे कर्म करने में उसका साथ नहीं देता। जब वह अन्तःकरण की आवाज को ठुकरा कर कर्म करता है तो उस कर्म में उसकी आसक्ति हो जाती है और आसक्ति के लिये गीता कहती है—

'मा फलेषु कदाचन।'

फल में आसक्ति न रख, कर्म के फल में तेरा अधिकार नहीं है। बुरे कर्म किये जाते हैं केवल फल की आशा से और अच्छे कर्म किये जाते हैं कर्तव्य समझकर। कर्तव्य-पालन में अपना और विश्व का सुख है परन्तु आसक्ति से किये जानेवाले काम्य-कर्मों में दूसरों को हानि पहुँचाकर अपना सुख प्राप्त करने में भी मनुष्य पीछे नहीं हटता। जब सब मनुष्य धीरे धीरे इसी प्रकार काम्य कर्मों में लिप्त हो

जाते हैं तो विश्व में सिवा अशांति धोखे, छल, कपट, झूठ और आडम्बर के और कुछ रहता ही नहीं। इसलिये अपने सुख के लिये कर्म मत करो अपने सुख को कुचलो भी मत। क्योंकि—

'मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'।

कर्म-फल की वासना को अथवा अपने सुख को लेकर भी कर्म मत कर और कर्म करना भी मत छोड़। कर्म छोड़ने से तो अपना सुखरूप परमानन्द कुचल जायगा।

गीता का कहना है कि कर्म करने का फल जरूर भोगना पड़ेगा चाहे वह कर्म अच्छा हो और चाहे बुरा। परन्तु यह याद रहे कि—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
गीता अध्याय ३ श्लोक ६

यज्ञ के कर्मों को छोड़कर सब कर्म बन्धन देनेवाले हैं। इसलिये कर्म करने का जहां गीता अधिकार देती है वहां कहती है कि केवल यज्ञ के कर्म करो अन्य कर्मों के करने से बन्धन होगा, पराधीनता होगी, अशांति होगी और अन्त में दुर्गति होगी।

## यज्ञ के कर्म क्या हैं ?

जगद्गुरु श्री शंकराचार्यजी ने लिखा है—

'यज्ञौ वै विष्णुः'

यज्ञ ही विष्णु है। विष्णु के निमित्त जो कर्म किये जावें वे यज्ञ ही हैं।

मीमांसकों का कथन है कि 'सृष्टि व्यवहार को चलाने के लिये मनुष्य के नियत कर्म ही यज्ञ हैं।'

'स्वधर्म का पालन ही यज्ञ है' ऐसा भी कुछ आचार्यों ने लिखा है। और कुछ कहते हैं कि 'श्रौत स्मार्त तथा चातुर्वर्ण्य के शास्त्रानुकूल कर्मों को अनासक्त होकर करते रहना यज्ञ है।'

सारांश सब का यही है कि—

सृष्टि का व्यवहार चलाने के लिये, अनासक्त होकर, ईश्वर-अर्पण बुद्धि से किया हुआ, शास्त्रों के अनुकूल सेवा और परोपकार सहित स्वधर्म का पालन यज्ञ है।

मनुष्य यदि यज्ञ कर्मों का आचरण करनेवाला हो जाय तो वह अपने और संसार के लिये सुख का स्रोत बहा सकता है। कर्म के लिये कर्म ( Duty for duty's sake ) करना सीखने से धीरे धीरे यज्ञ के कर्म स्वयं होने लगते हैं। हमारा भजन भजन के लिये हो और ज्ञान ज्ञान के लिये। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य कर्म कर्त्तव्य के लिये नहीं करता वरन् अपने सुख के लिये करता है, भजन भजन के लिये नहीं करता वरन् दिखाने के लिये, पाप निवृत्ति के लिये या ईश्वर से कुछ मांगने के लिये करता है। योग योग के लिये करनेवाले आज कम हैं परन्तु बाजारों में आसन, प्राणायाम, कसरत खेल दिखानेवाले बहुत हैं।

## कर्म में उपासना आवश्यक है

कर्म में अहंभाव और फलेच्छा रहनी सम्भव है। परन्तु ईश्वर अर्पण बुद्धि से किया गया कर्म, अहंभाव से रहित होगा और फल उसका भगवान् के हाथ में रहने के कारण कभी कोई उलझन नहीं आ सकेगी। इसी कारण गीता का आदेश है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

कर्म की रगड़ से उत्पन्न होने वाले द्वन्द्वों की छाप मनुष्य पर न लगे इसका एक मात्र उपाय है भगवान् को बीच में रखना। खाने, पीने, उठने, बैठने, दान, तप, यज्ञ, भजन, निन्दा, प्रशंसा सबमें यदि यह भाव होगा कि मैं सेवक अपने स्वामी के लिये ये कर्म कर रहा हूँ तो करने वाले का दोष नहीं

रह सकता। छत्रपति शिवाजी क्यों इतने बलवान् हुए। उन्हें अपनी देह का मोह, सुख की वासना, शत्रु का भय और महत्वाकांक्षा की लिप्सा क्यों नहीं थी ? केवल इसलिये कि उस वीर कर्मयोगी पुरुष ने अपना सर्वस्व किसी के अर्पण कर दिया था। वह समझता था कि राज्य, धन, धाम, परिवार और मेरी देह भी मेरी नहीं है, इसका कोई स्वामी है और वह स्वामी जो कुछ करायेगा मैं करूंगा; उसके करने में न मुझे सुख होगा न दुःख, न लाभ न हानि, न जीवन न मरण, और न पाप का ही भय होगा। पाप पुण्य का उत्तरदायित्व भी उसी पर होगा जिसके लिये मैं कर्म कर रहा हूँ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास एक बार उनसे भिक्षा माँगने आये। महलों के द्वार पर पहुंच कर उन्होंने याचना की। शिवाजी बाहर आये और गुरु को द्वार पर खड़ा देख गद्‌गद हो गए। तत्काल ही एक रत्न और जवाहरातों से भरा थाल लाकर गुरु के सामने उपस्थित किया।

समर्थ रामदास ने शिवाजी की ओर देखा और कहा, 'शिवा! रामदास तुम्हारे रत्न जवाहरातों का भूखा नहीं है उसे उसके उपयुक्त भेंट दो।' शिवाजी ने एक कागज़ पर कुछ गाँव लिख कर उनकी भेंट किये। समर्थ ने फिर वही उत्तर दिया। इस बार शिवाजी ने अपना सारा राज्य गुरु के अर्पण कर दिया।

समर्थ ने कहा, 'शिवाजी! मैं राज्य का भूखा नहीं हूँ मेरे संकल्पमात्र से राज्य बनते और बिगड़ते हैं सोच विचार कर मेरे उपयुक्त भेंट दो।'

शिवाजी बड़ी चिन्ता में थे कि अपने राज्य से भी बड़ी वस्तु मेरे पास क्या है ? ध्यान आते ही वे गुरु के चरणों में लेट गये और बोले, 'गुरुदेव! मैंने भूल की कि संसार की तुच्छ भेंट आपके सामने रखी अब मैं समझा कि—

मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।

यह शरीर भी आपकी कृपा से प्राप्त है अतः मैं, इस शरीर, राज्य, धन, परिवार सहित आपके अर्पण हूँ।

समर्थ ने उन्हें स्वीकार किया और कहा, 'शिवाजी! आज से तुम तुम्हारे नहीं बल्कि मेरे हो। मैं जो कुछ आज्ञा दूं उसके करने में सुख हो, दुःख हो, हानि हो, लाभ हो कुछ भी हो उसको तुम अपना न मानना। तुम तो केवल मेरी आज्ञा से कर्म करने के अधिकारी हो फल के नहीं। फल में तुम्हारी प्रीति न हो और कर्म करना तुम्हें अस्वीकर न हो।'

शिवाजी ने स्वीकार किया और अपना शरीर भी अपना न समझ कर गुरु के आदेशानुसार कर्तव्य-पालन करके वह अपना नाम अमर कर गया।

यदि हम इसी प्रकार ईश्वर को अथवा समर्थ के समान गुरु को आत्म-समर्पण करके कर्म करें तो न कर्म में त्रुटि रहने की सम्भावना है और न उसका कोई पाप हो सकता।

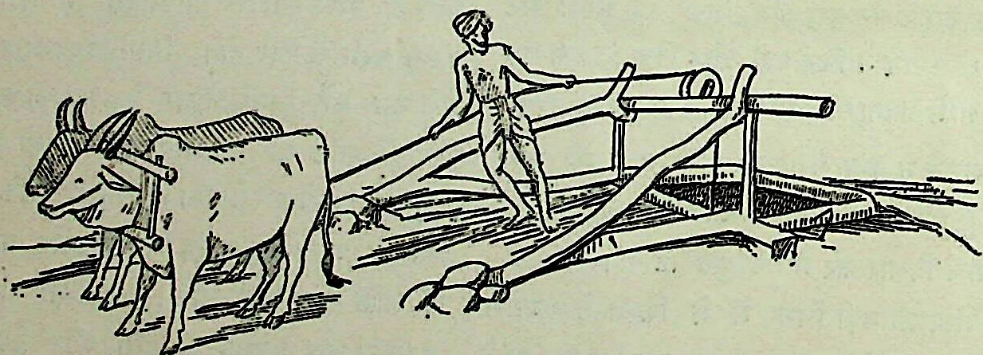
कर्म की सबसे बड़ी कुशलता इसी में है कि कर्म कर्म के लिये हो, परम पिता की आज्ञा पालन के लिये हो, उसके विरोध या अवज्ञा में न हो, उसे प्रसन्न करने के लिये हो। नित्य के व्यवहार में हम ऐसे कर्म करें जिनमें ईश्वर के भाव की छाप हो। मन की शक्ति को जगानेवाला कर्म ही कर्म है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म ऐसा हो जिससे उसके मन की प्रसन्नता, आन्तरिक शांति, उत्साह और कार्य करने की शक्ति बढ़ती चली जाय। जब भी मनुष्य कर्म करने में भूल करेगा, शास्त्राज्ञा और ईश्वरादेश के

विरुद्ध कर्म करेगा, उसकी शक्ति को एक धक्का लगेगा, वह क्षीण होकर उसकी शान्ति और प्रसन्नता को भंग कर देगी और धीरे धीरे वह अपनी आँखों में गिरकर संसार की आँखों में भी गिर जायगा।

कर्म करें और हम निर्लेप रहें इसका आदेश गीता इस प्रकार देती है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

जो है निराश्रय तृप्त नित, फल कामनाएँ तज सभी।
वह कर्म सब करता हुआ, कुछ भी नहीं करता कभी॥
जो कामना तज, सर्व-संग्रह त्याग, मन वश में करे।
केवल करे जो कर्म दैहिक, पाप से है वह परे॥
बिन द्वेष द्वन्द, असिद्धि सिद्धि समान हैं जिसको सभी।
जो है यदृच्छा-लाभ-तृप्त, न बद्ध वह कर कर्म भी॥
चित ज्ञान में जिनका सदा जो मुक्त संग विहीन हों।
यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों॥



# * रामायण में स्वराज्य *

[ ले०—श्री पं० नर्मदा प्रसाद शर्मा साहित्यरत्न काव्यतीर्थ 'प्रफुल्ल' ]

भारतीय धर्मशास्त्रों में जीवन के सभी अंगों की पुष्टि का उपाय सुलभ होता है। गीता और रामायण जो हिन्दूमात्र के ही नहीं बल्कि विश्व संस्कृति के प्राण हैं उनमें जहाँ अनेक धर्म-कर्मों का आदर्श, तप, दान, व्रत आदि का माहात्म्य मिलता है वहां स्वराज्य की प्रतिमा के भी अनुपम दर्शन होते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने स्वराज्य का माहात्म्य बताते हुए लिखा

राम वास वन सम्पति भ्राजा।
सुखी प्रजा जनु पाइ स्वराजा॥
अलि गण गावत नाचत मोरा।
जनु स्वराज्य मंगल चहुंओरा॥
अर्क जवास पात बिनु भयऊ।
जनु स्वराज्य खल उद्यम गयऊ॥
विविध जन्तु संकुल महि भ्राजा।
प्रजा बाढ़ि जिमि पाय स्वराजा॥

इन पंक्तियों में स्वराज्य के सुख का वर्णन मिलता है।

इस स्वराज्य के नष्ट होते ही प्रजा को कितना दुःख होता था और वह किस प्रकार सत्याग्रह करती थी यह भी देखिये—

राजा होने के कारण दशरथजी के लिये अपने राज्य का इतना अच्छा प्रबन्ध करना उचित था कि उसमें दुष्ट पुरुष, साधु पुरुषों के सत्कर्मों में विघ्न न डाल सकें और उन्हें न सता सकें। परन्तु दशरथ के प्रबन्ध में कुछ शिथिलता के कारण सुबाहु, ताड़िका आदि दुष्ट राक्षस प्रजा के स्वराज्य में बाधा डालने लगे। जहाँ मनुष्य यथेच्छ धर्म-कर्म न कर सकें, इच्छित और आवश्यक वस्तु की प्राप्ति में जहाँ कठिनाई होने लगे मनुष्यों की भावनाएँ कुचलकर जहाँ उनके हित से विपरीत शासन किया जाय वहीं गुलामी है और इसके विरुद्ध जहाँ मनुष्य के धार्मिक-कृत्यों में कोई बाधा नहीं रहती, आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति सुविधा से हो जाती है, प्रजा की भावनाओं का जहाँ गान किया जाता है, प्रजा-हित की जहां चिन्ता होती है वहां सब भांति स्वराज्य समझना चाहिये।

जब महात्मा पुरुषों को दशरथ के राज्य में ऐसी बाधाएँ आने लगी तो उन्होंने सत्याग्रह करने का निश्चय किया। विश्वामित्र राजा दशरथ के दरबार में पहुँचे और कहा—

असुर समूह सतावहिं मोही।
मैं याचन आयउ नृप तोही॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निशिचर वध मैं होव सनाथा॥

राजा का हृदय कांप उठा। यद्यपि विश्वामित्र के आग्रह में सत्य था इसलिये वह सत्याग्रह था परन्तु राजा ऐसा नहीं चाहते थे। फिर भी उन्होंने सत्याग्रह का मान किया और बहुत कुछ बात चीत के पश्चात् प्रजा की सेवा के लिये अपने प्यारे पुत्रों को यज्ञ-रक्षा के हित अर्पण किया।

स्वराज्य के लिये सीता ने राम से सत्याग्रह किया, लक्ष्मण ने राम से बन चलने के लिये सत्याग्रह किया, प्रजा ने राम से बन चलने के लिये सत्याग्रह किया। सभी अपने अपने सत्याग्रह पर अटल रहे और राजा ने सबका मान किया।

रामायण के अनुसार स्वराज्य के प्रबन्धकर्ता कैसे हों यह भी देखिये—

सकल अंग सम्पन्न सुराऊ।
राम चरण आश्रित चित चाऊ॥
सचिव विराग विवेक नरेशू।
विपिन सुहावन पावन देशू॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी।
माधव सरिस मीत हितकारी॥
भट यम नियम शैल रजधानी।
शान्ति सुमति श्रद्धा प्रिय रानी॥
चारि पदारथ भरा भँडारू।
पुण्य प्रदेश देश अति चारू॥
जीति मोह महिपाल दल सहित विवेक भुआल।
करत अकंटक राज्य पुर सुख संपदा सुकाल॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवश नरक अधिकारी॥
मुनि तापस जिनतें दुख लहहीं।
ते नरेश विन पावक दहहीं॥
गुरु सुर सन्त पिता महिदेवा।
करहिं सदा नृप सबकै सेवा॥
दिन प्रति देइ विविध विध दाना।
सुनइ शास्त्र वर वेद पुराणा॥
मुखिया मुख सो चाहिये खान पान कहँ एक।
पालहि पोषहि सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥

स्वराज्य की प्रजा भी मन माने कर्म करने वाली उच्छृङ्खल अथवा स्वार्थ पूर्ण नहीं होती। परहित-चिन्तन, धर्म-प्रेम स्वात्माभिमान के गुण उनमें कैसे होते हैं, यह रामायण में इस प्रकार दिखाया है—

पुर नर नारि सुभग सुचि सन्ता।
धर्म शील ज्ञानी गुण वन्ता॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

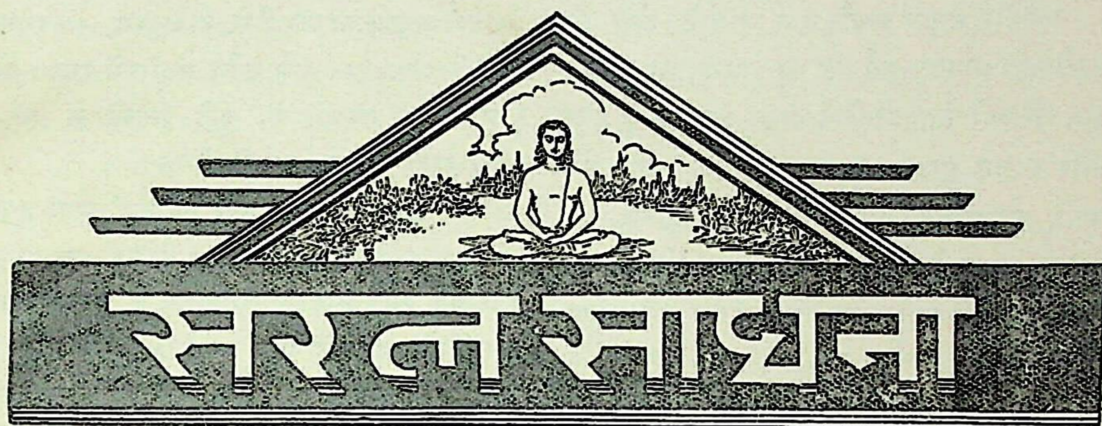
इस प्रकार राजा प्रजा विद्वान् आदि सबके सहयोग और धर्म नीति पर चलने से स्वराज्य स्वयं ही प्राप्त होता है, ऐसे स्वराज्य में ही विश्व में शांति स्थापित होने की सम्भावना है।

जो मनुष्य अपने मन की आधीनता और इन्द्रियों की दासता की जंजीर तोड़कर आत्मा को स्वतन्त्र करता है वही सच्चे स्वराज्य का उपभोग करने योग्य है। काम-कामी, मन और इन्द्रियों के दास पुरुष न स्वराज्य प्राप्त कर सकते और न उसको प्राप्त करके उसका उपभोग ही कर सकते। स्वतन्त्रता आत्मवान् पुरुष के लिये है। आलसी आसक्त स्वार्थी और अधर्मी पुरुषों के लिये नहीं।

# मानवधर्म-नीति

[ कवीन्द्र श्री नाथूरामजी माहौर ]

मानव सुधर्म-नीति राजै मृगराजनी सी, साजे सुख साज न्याय कानन विहारनी।
'माहुर सुकवि' नव सुयश प्रचारनी है, कलिकाल-कुरंग कुरंगन पछारनी॥
धाम धाम धारनी उचारनी स्वतंत्र-मंत्र, परतंत्र षड़यंत्र-यंत्रन संहारनी।
साम दाम आदि पुष्ट पंजन नखायुध से, अकृत-मतंग मत्त कुंभन विदारनी॥




## मन पर विजय

[ ले०—श्री पं० तिलकधर शर्मा शास्त्रविशारद प्रभाकर ]

देखनेवाला एक है और देखने की वस्तुएँ अनन्त हैं। परन्तु फिर भी वह सब कुछ देख सकता है। इसी प्रकार ज्ञान अनन्त है और ज्ञाता एक है, परन्तु वह सब कुछ जान सकता है। जितना भी ज्ञान है उसकी उत्पत्ति ब्रह्म से है। अतः उसकी प्राप्ति का स्थान भी ब्रह्म ही है। सच्चिदानन्दघन परमात्मा की कृपा मात्र से अनन्त ज्ञान का भण्डार सुलभ हो जाता है। ज्ञान के प्रकाश में संसार का तम, अशान्ति का कुहरा और कर्म की कठिनाई का नाम निशान भी नहीं रहपाता।

ज्ञान की प्राप्ति में भक्तिमय कर्म सहायक होता है और भक्तिमय कर्म करने के लिये साधना और संयम की आवश्यकता है। साधना का अभिप्राय है संकीर्ण, क्षुद्र भावों से छुट कर अनन्त आनन्द के वातावरण में विचरण करना। मन जितना बड़ा होता है वह उतनी ही उच्च स्थिति में मानव को रहने देता है। छोटे मनवाला मनुष्य छोटा और विशाल मनवाला विशाल बनता है। छोटे मन का सुख छोटा अस्थाई और बड़े मन का सुख अनन्त और स्थाई होता है।

संसार में जितने साधन हैं वे सब इसलिये हैं कि सुख मिले, शांति मिले, सफलता मिले और पूर्ण-काम होकर सुखधाम मिले। मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह—(१) सुख के साथ जीवित रहे। (२) स्वतन्त्रता प्राप्त करे। (३ अनन्त सत्ता के सम्पर्क में रहे। (४) पूर्ण काम हो (अमरत्व प्राप्त करे)। दूसरे शब्दों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थों को प्राप्त करे। जीवन पर्यन्त मनुष्य इन्हें पाने के प्रयत्न करता है परन्तु कोई भाग्यवान् ही पार पाता है। चारों पदार्थों की प्राप्ति का प्रयत्न साधना का लक्ष्य है और इन्हें सुलभ करलेना साधना का फल है। ये चारों पदार्थ क्या हैं और कैसे प्राप्त हों इसका विस्तार तो किसी दूसरे लेख में किया जायगा परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि—

सकल पदारथ हैं जगमाहीं। कर्महीन नर पावत नाहीं॥

कर्महीन मनुष्य अर्थात् हीन या छोटे कर्मों का करनेवाला अथवा कर्म का न करनेवाला मनुष्य कुछ भी नहीं पाता इसलिये **संसार का सब से बड़ा और प्रधान साधन आलस्य, प्रमाद, राग, द्वेष आदि को छोड़कर नित्य निरन्तर कर्तव्य का पालन करना है।** जिसने यह साधना सीखली वह सब साधनों में सफल होगा और जिसने कर्म करना नहीं सीखा है वह योग, जप, तप, ध्यान, दान, पुण्य किसी में भी सफल-प्रयत्न नहीं हो सकता।

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'

जनकादि भी कर्म द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त कर सके हैं।

इस कर्म-मार्ग में दो बाधक हैं (१) मन। (२) इन्द्रियाँ।

मनुष्य चाहता है वह कर्तव्य का पालन करे पर मन अनमना हो जाता है। मन के अनमने होते ही इन्द्रियां शिथिल पड़जाती हैं और वह कर्तव्य-पथ से पीछे ही गिरने लगता है। अतः मन पर अधिकार करना कर्म-मार्ग की सफलता का प्रथम साधन है।

मन में स्वयं इतना बल नहीं है जितना संगति, रहन, सहन, आचार-विचार और वातावरण उस में भर देते हैं। इसीलिये एकान्त में मन की चञ्चलता नष्ट हो जाती है। एकान्त वही है जहां मन एक में लगा रहे। जहां और कुछ न दिख कर केवल एक के ही दर्शन होते रहें, जहां घोर कोलाहल में घिर कर भी कार्य-संलग्नता से निर्जनता का भान हो। आदर्श मनुष्य वही है जो अपना कर्म करते समय वन की सी शांति और एकाग्रता अनुभव करे। इस अनुभव को प्राप्त करने के लिये चार प्रधान साधन हैं—

(१) मनुष्य का मन जैसे वातावरण में रहेगा वैसा ही बनेगा अतः उसे सदैव सत्संग में रखो। बुरे कामों में, बुरे मनुष्यों में, बुरी पुस्तकों में, और दूषित दृश्यों में मन को न गिरने दो।

(२) 'जैसा खाये अन्न वैसा रहे मन' अतः शुद्ध कमाई का सात्विक आहार सेवन करो। छल कपट से कमाया हुआ धन तामसी धन है उसका भोग तामसी भोग होता है और उसका फल भी तामसी होता है। मुफ्त का पैसा मत लो, बेईमानी का पैसा मत छुओ। और फिर देखो कि मन कितना शान्त कितना प्रसन्न और कितना सुखी तथा स्थिर रहता है।

(३) मन जिस समय खाली बैठेगा उसी समय भागेगा। इसलिये भजन करते समय उसे भजन में लगाओ, खाते समय भोजन में, कार्य करते समय कार्य में, खेलते समय खेल में, जो कुछ कर्म करो उसमें मन लगा रहे तो वह धीरे धीरे भागने के स्वभाव को छोड़ देगा। ऐसा करने में शुरू शुरू में कठिनाई हो सकती है परन्तु—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

यह अभ्यास बहुत काल तक लगातार श्रद्धापूर्वक करते रहने से परिपक्व हो जाता है।

किसी मंत्र विशेष का जप ओंकार की साधना, शब्दश्रवण, प्राणायाम, आसन, त्राटक, मुद्रा आदि से भी मन शान्त होता है। अनुभवी गुरु की सलाह से इनमें से कोई साधन करना चाहिये।

जिस प्रकार नाथा हुआ बैल वश में आजाता है इसी प्रकार दीक्षित मन भी आज्ञाकारी गुरु-भक्त और ईश्वर परायण बनता है। इसीलिये कहा जाता है कि गुरु से दीक्षा लिये बिना मनुष्य अधूरा रहता है। कारण उसकी चंचलता आशा तृष्णा

और वासनाएं शान्त नहीं होती। गुरुमन्त्र मनका नियन्त्रण करके गुरु के बताये हुए अनुभूत-मार्ग पर मनुष्य को लगा देता है।

(४) भगवान् का भय मानो। दूषित कर्म की ओर मन के जाते ही उसे डरा कर, धमका कर फिर भगवत्-चरणों में, भगवत्-कार्य में अथवा भगवत् आज्ञा पालन में लगादो। ऐसा करने से मन पूर्ण शांत हो जायगा।

इस प्रकार मन से निरन्तर युद्ध करके उस पर विजयी होना ही वीरता है और वीरता ही जीवन है।

तीर तुपक से जो लड़े सो तो शूर न होय।
मनहिं जीत भगती करे शूर कहावे सोय॥

## उसे कौन कहता है मानव ?

[ रचयिता—जैनमुनि अमृतचन्द्र जी "सुधा" ]

उसे कौन कहता है मानव ?
होता रहता है पापों का, जिसके मनसे मलिन महास्रव।
दीनों को दुःख दे दे करके
बन बैठा जो क्षणिक सुखी है।
नाम धर्म का लेकर जिसने;
किया स्वयं को पापमुखी है॥
मानवतन में छिपा अरे! है; वह तो महा भयङ्कर दानव।
उसे कौन कहता है मानव ?

वैभव की दुनियां में बसकर;
जिसने निज पथ भुलादिया है।
जीवन की महिमा को जिसने;
मद मिट्टी में मिलादिया है॥
असहायों की आह भरा जो, पीता है नित खूनी आसव।
उसे कौन कहता है मानव ?

सौम्य सरलताओं को प्रतिपल;
स्वार्थ सुखों के हित छलता है।
मानवता का मार्ग मिटाकर;
मनमाने पथ पर चलता है॥
जीवन की शुचि शीतलता में, लगारहा है जो भीषण दव।
उसे कौन कहता है मानव ?

# श्री अरविन्द संदेश

## श्रीअरविन्द के विचार

परमेश्वर ने संसार को एक युद्ध-क्षेत्र बनाया है, जिसमें कि लड़ाकू एक दूसरे को पैरों तले कुचल रहे हैं और जिसमें बड़ी-बड़ी लड़ाई और संघर्ष की पुकारें हो रही हैं। क्या तुम ईश्वरीय शान्ति को उस मूल्य के बिना चुकाये ही पा सकते हो, जो कि उसने इस युद्ध की शांति के लिए निर्धारित किया है?

कुछ लोग किसी विशेष ईश्वरीय रक्षा में विश्वास करने या अपने आपको एक उपकरण की तरह ईश्वर के हाथों में छोड़ देने में एक गौरव अनुभव करते हैं। लेकिन मैं तो इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर एक विशेष ईश्वरीय शक्ति है और मैं तो समझता हूँ कि ईश्वर ही मजदूर के कुदाल को चलाता है और वही एक छोटे बच्चे के मुख में तुतलाता है।

ईश्वरीय रक्षा केवल वही नहीं है जो कि टूटी हुई नैया से जिसमें कि और सब डूब जाते हैं, मुझे बचा लेती है, वह भी ईश्वरीय रक्षा ही है जो कि मेरी रक्षा के अन्तिम तख्ते को मुझसे छीन लेती है और मुझे निर्जन महासागर में डुबो देती है, जब कि दूसरे सब बच जाते हैं।

वे आत्मायें जिनका कोई ऊँचा ध्येय नहीं होता, जिनमें कोई अभीप्सा नहीं होती, परमेश्वर की असफलतायें हैं। लेकिन प्रकृति उनसे खुश होती है और उनकी संख्या को बढ़ाना चाहती है, क्योंकि वे उसके साम्राज्य को स्थिर रखने और बढ़ाने का निश्चय दिलाते हैं।

ग़रीब, अज्ञानी, जन्म से ही अपंग और अभागे लोगों की जन-साधारण में गिनती नहीं है, बल्कि जन-साधारण वे हैं जो कि छोटी-छोटी चीजों में और साधारण मनुष्यता में ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

मनुष्यों की सहायता करो, लेकिन उन्हें उनकी शक्ति से ही वंचित मत कर दो। बेशक मनुष्यों का पथप्रदर्शन करो और उन्हें शिक्षित करो, लेकिन ध्यान रखो कि उनकी अपनी नवीन कार्य करने की शक्ति और मौलिकता अक्षुण्ण बनी रहे। बेशक दूसरों को अपने में मिलाओ, पर बदले में उन्हें उनकी प्रकृति का पूर्ण दैवत्व भी प्रदान करो। वही नेता और गुरु है जो कि यह सब कर सकता है।

पूर्ण प्रतीत होनेवाली किसी भी सफलता पर विश्वास मत करो। सफल हो चुकने के बाद भी

तुम देखोगे कि अब भी बहुत कुछ करने को बाकी है। आनन्दित रहो और आगे बढ़ते चलो; क्योंकि इससे पहले कि तुम वास्तविक पूर्णता को प्राप्त करो तुम्हें सुदीर्घ श्रम का मार्ग तय करना होगा।

इससे बड़ी घातक भूल और क्या होगी कि तुम बीच की किसी मंजिल को ही उद्देश्य समझे रहो या अपने असली लक्ष्य को भूलकर बीच के किसी विश्रान्ति-स्थान पर बहुत देर तक टिके रहने की गलती करो।

जब कभी तुम्हें कोई महान् अन्त दिखाई दे तो विश्वास रखो कि महान् प्रारम्भ होनेवाला है। जहाँ कोई बड़ा दर्दनाक विनाश तुम्हारे मन को भयभीत करता हो तो अपने मन को सान्त्वना दो कि किसी महान् रचना का होना अवश्यम्भावी है। परमेश्वर अन्तरात्मा की धीमी आवाज में ही नहीं, बल्कि अग्नि और तूफ़ान में भी है।

जितना ही बड़ा विनाश होगा उतना ही अधिक रचना का खुला अवसर होगा। परन्तु विनाश दीर्घकाल तक धीरे-धीरे होता रहता है और दबानेवाला होता है, और रचना बहुत बिलम्ब से आती है और इसकी सफलता में बाधायें पड़ती हैं। रात्रि बार-बार लौटकर आती है और दिन देरी से आता है या ऐसा प्रतीत होता है मानो थोड़ी देर के लिए एक मिथ्या उषाकाल आकर चला गया हो। इसलिये निराश मत हो, बल्कि सावधान रहो और अपना काम करते जाओ। जो कि उत्कट आशा रखते हैं वे जल्दी निराश होते हैं। न आशा लगाओ और न डरो, परन्तु निश्चित रहो कि परमेश्वर का कोई लक्ष्य है, तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।

उस दैवी कलाकार का हाथ बहुधा इस तरह काम करता है, मानो वह अपनी प्रतिभा और अपने उपकरण के विषय में अनिश्चित हो। ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी चीज़ को हाथ लगाता है, उसकी परीक्षा करता है और छोड़ देता है, उठाता है, फेंक देता है और फिर उठा लेता है; श्रम करता है और प्रकृतकार्य हो जाता है; अधूरा काम करता है और फिर उसे जोड़ देता है। आश्चर्य और निराशायें उसके काम के नियम रहते हैं, जब तक कि सब कुछ बनकर तैयार नहीं हो जाता। जिसको पहले चुना था, अब उसे निन्दित करके अस्वीकृति के अथाह गढ़े में डाल देता है और पहले जिसे अलग कर दिया था, वह अब उसके विशाल महल के कोने का पत्थर बनता है। परन्तु इस सबके पीछे हमारी तर्कणाशक्ति का अतिक्रमण कर जानेवाली ज्ञान की एक दिव्य चक्षु और अनन्त योग्यता की मन्द मुस्कान है।

परमेश्वर के सामने अपरिमित समय है और उसे हमेशा जल्दी में रहने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने उद्देश्य और सफलता के विषय में निश्चिन्त है और उसे कुछ चिन्ता नहीं है, यदि वह अपने काम को पूर्णता के अधिक समीप लाने के लिये सैकड़ों बार भी तोड़ता है। धैर्य हमारे लिए सबसे बड़ा आवश्यक पाठ है। लेकिन डरपोक, सन्देहवादी, श्रान्त, आलसी, महत्त्वाकांक्षा-रहित और निर्बल व्यक्ति की प्रगति करते हुए मानसिक सुस्ती धैर्य नहीं है; धैर्य वह है जो शान्ति से ओत-प्रोत है, शक्ति का संचय करता रहता है और उन उत्कट महान् प्रहारों की प्रतीक्षा करता है और उनके लिये अपने आपको तैयार करता रहता है जो चाहे थोड़े हों, फिर भी भाग्य को पलटने के लिये पर्याप्त हैं।

क्यों परमेश्वर इतनी उग्रता से संसार पर हथौड़े की चोटें कर रहा है, इसे कुचले देता है, आटे की

तरह गूंद रहा है, रुधिर की नदी में स्नान करा रहा है और धधकती हुई भट्ठी की नारकीय आग में तपा रहा है? इस कारण क्योंकि आम जनता की मनुष्यता अब भी उस कठोर, खराब, अशुद्ध कच्ची धातु के रूप में है जो कि बिना तपाये पिघलाई और किसी सुन्दर आकृति में ढाली नहीं जा सकती है। जैसा उसके पास माल है, वैसी ही उसकी कार्य-प्रणाली है। यदि उसका माल अधिक कोमल और शुद्ध धातु के रूप में बदल जाय तो उसकी प्रणाली भी अधिक कोमल, मधुर, श्रेष्ठ और उपयोग के लिये अधिक अच्छी होगी।

उसने ऐसा माल क्यों बनाया या चुना जब कि उसके सामने चुनने के लिए सभी सम्भव क्षेत्र खुले हुए थे। इस कारण क्यों कि उसके दिव्य विचार के सामने न केवल सौन्दर्य, मधुरता और पवित्रता ही थी, बल्कि शक्ति, संकल्प और महत्ता का विचार भी उसके सामने था। शक्ति को तुच्छ मत समझो, न ही इसके कुछ पहलुओं की कुरूपता के कारण इससे घृणा करो। यह भी मत समझो कि परमेश्वर केवल प्रेममय ही है। सम्पूर्ण पूर्णता में कुछ अंश वीरता का भी और क्रूरता तक का होना चाहिये। बड़ी से बड़ी शक्ति बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में से गुजर कर ही प्राप्त होती है।

सब कुछ बदल जाता यदि मनुष्य एक बार अपने आपको आध्यात्मिकता के साँचे में ढालने के लिए तैयार हो जाता। परन्तु उसकी मानसिक और भौतिक प्रकृति इस ऊँचे नियम के प्रति द्रोह करती है। उसे अपनी अपूर्णता ही प्रिय है।

आत्मा हमारे व्यक्तित्व का असली स्वरूप है। मन और शरीर अपनी अपूर्ण दशा में इसके आवरण हैं, परन्तु पूर्ण अवस्था में इसके ढाँचे हैं। केवल आध्यात्मिक होना ही पर्याप्त नहीं है; बेशक यह कुछ आत्माओं को स्वर्ग के लिए तैयार कर देता है लेकिन इस लोक को जहाँ वह था, बहुत कुछ वहीं छोड़ देता है। न ही समझौता मुक्ति का मार्ग है।

संसार तीन प्रकार की क्रान्तियों से परिचित है प्राकृतिक-क्रान्ति कई प्रबल परिणामों को पैदा करती है; नैतिक और बौद्धिक क्रान्ति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है और इसके फल अत्यन्त श्रेष्ठ हैं; किन्तु आध्यात्मिक-क्रान्ति महान् बीजों का वपन-मात्र है।

यदि त्रिविध परिवर्त्तनपूर्ण संगति में मिल सके तो एक निर्दोष कार्य होगा। परन्तु मनुष्य का मन और शरीर आते हुये प्रबल आध्यात्मिक प्रवाह को सँभाल नहीं सकते। बहुत सारा तो बिखर जाता है, शेष बहुत-सा विकृत हो जाता है। हमारी भूमि के बौद्धिक और शारीरिक क्षेत्र में उन्नति की दिशा में बहुत-से परिवर्त्तन की आवश्यकता है, तभी विशाल आध्यात्मिक बीजों को बोने का कुछ लाभ होगा।

प्रत्येक धर्म ने मनुष्य-जाति की कुछ न कुछ सहायता की है। प्राचीन बहु देवतावादी मूर्तिपूजक धर्म (पैगनिज्म) ने मनुष्य के अन्दर सौन्दर्य के प्रकाश का विकास किया है; उसके जीवन को उच्च और विशाल बनाया है और उसके उद्देश्य को चहुँमुखी पूर्णता की ओर अग्रसर किया है। ईसाइयत ने उसे दैवीय प्रेम और दान का कुछ दर्शन कराया है। बौद्ध धर्म ने उसे शुद्ध, बुद्ध और नम्र होने का एक श्रेष्ठ मार्ग दिखाया है। यहूदी धर्म और इस्लाम ने धार्मिक रूप से क्रिया में सच्चे और ईश्वर के प्रति उत्कट भक्तिवाला होना सिखाया है। हिन्दूधर्म ने उसके सामने बड़ी से बड़ी और गहरी से गहरी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को खोल दिया

है। एक बहुत महान् कार्य हो जाता यदि ये सब ईश्वरीय दृष्टियाँ आपस में मिल जातीं और अपने आपको एक दूसरे में अन्तर्हित कर देतीं। लेकिन बौद्धिक सिद्धान्तवादिता और साम्प्रदायिक अहंकार मार्ग में रुकावट बनकर खड़े हो जाते हैं।

सभी धर्मों ने बहुत-सी आत्माओं को बचाया है, पर मनुष्य को आध्यात्मिकता के साँचे में कोई भी नहीं ढाल सका है। क्योंकि इसमें सम्प्रदाय या मत की आवश्यकता नहीं है, बल्कि अपने आत्मिक-विकास के लिए एक स्थिर और सर्वाङ्गीण प्रयत्न की अपेक्षा है।

आजकल संसार में हमें दीखनेवाले परिवर्त्तन अपने आदर्शों और उद्देश्यों में बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक हैं। आध्यात्मिक क्रान्ति अपने अवसर की प्रतीक्षा में है और इस बीच में इधर-उधर अपनी लहरें उछाल रही है। जब तक यह नहीं आती है, अन्य क्रान्तियों का महत्त्व समझ में नहीं आ सकता और तब तक वर्त्तमान घटनाओं की व्याख्यायें और मनुष्य जाति के अग्रिम चक्र को मनुष्य के भविष्यदर्शन के प्रयत्न सब व्यर्थ हैं। क्योंकि इसका स्वरूप शक्ति और घटना ही निश्चित करेंगे।

## मानवधर्म के लिये

कुर्वन् विश्वजनीनमाप्तवचनैर्धर्मोपदेशं शुभम्।
तन्वन्नीश्वरभक्तिमक्षयगुणं प्रेम्णः फलं दर्शयन्॥
धुन्वन्मानवमानसोद्भवमलं सारं श्रुतानां दधत्।
जीयात् 'मानवधर्म' एष लभतादुच्चैर्यशो निर्मलम्॥ १ ॥

यस्मिन् धर्मसुतः पुराऽघशमनं चक्रे स्वधर्मासनात्।
सम्राजा विहितो यतः प्रतिनिधिः शास्ति स्वयं भारतम्॥
तस्मिन्नेव नवोदितो हरिहयप्रस्थे सुधीसम्मतः।
कुर्यात् 'मानवधर्म' उत्तमगुणैर्लोकोपकारं सदा॥ २ ॥

(१) आप्त (यथार्थ) वचनों से विश्वहितकारी धर्म का शुभ उपदेश देता हुआ, ईश्वर-भक्ति का प्रचार करता और प्रेम के अक्षय फल को दर्शाता हुआ, मानवों के मनो-मल को दूर करता एवं शास्त्रों का सार समझाता हुआ यह 'मानवधर्म' जीवित रहे और उच्चतम विमल यश को प्राप्त करे।

(२) जहाँ युधिष्ठिर (महाराज) ने पहले स्वधर्म सिंहासनासीन हो सब दोष दूर किया, और जहाँ सम्राट का नियत किया हुआ प्रतिनिधि अब भी भारत का शासन करता है। उसी इन्द्रप्रस्थ में नव-उदित सर्व विद्वन्मान्य यह 'मानवधर्म' अपने उत्तम गुणों के द्वारा सदा लोगों का उपकार करता रहे।

प्रोफेसर श्री पं० गोपालदत्तजी शास्त्री

# गीता में स्वर्ग-प्राप्ति का रहस्य

[ लेखक—श्री सरदार मा० वि० किबे M. A. इन्दौर ]

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

जिनमें सत्त्व-गुण अधिक है वे ऊपर जाते हैं, जिनमें रजोगुण है वे मध्य में रहते हैं और जिनमें नीच वृत्तियां रहती हैं वे तामस लोग नीचे गिरते हैं।

इन तीनों स्थानों का अर्थ साधारणतया स्वर्गलोक मृत्युलोक और पाताललोक किया गया है।

यहाँ यह विदित होता है कि सतोगुणी पुरुष स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। परन्तु स्वर्ग के लिये गीता कहती है कि—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥

पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गलोक से प्राणी पुनः वापिस आता है। इसके साथ ही गीता यह कहती है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

अनेक जन्म उन्नति करने के बाद वह परम-गति को प्राप्त होता है। और फिर—

स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

वह प्राणी परमात्मा को पहुँच जाता है। इन सब श्लोकों की संगति मिलाने से पता लगता है कि सत्वगुणी लोग मनुष्य जाति के उच्चतरवर्ग में जन्म लेते हैं। रजोगुणी बारबार उसी वर्ग में जन्म लेता है और तमोगुणी नीच योनियों में जन्म लेता है। उदाहरण के लिये यदि शूद्र सतोगुणी हो तो वह वैश्य बनता है, फिर क्षत्री, फिर ब्राह्मण, बुद्धिमान्, बलवान्, धनी, राजा आदि आदि। और इसके विपरीत तमोगुणी ऊंचे से नीचे गिरता जाता है। इसके बाद—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

बहुत जन्मों तक अच्छे कर्म करते रहकर ज्ञानी पुरुष मुझ परमेश्वर को प्राप्त करता है।

गीता के अनुसार स्वर्ग-प्राप्ति के उपाय इस प्रकार हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

युद्ध में काम आजाने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और जीत जाने पर दुनिया में सुख मिलता है।

स्वर्ग पाने का दूसरा उपाय यह है कि—

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते
ते पुण्य मासाद्य सुरेन्द्रलोकम्—

वे यज्ञ करके स्वर्ग की तरफ गमन करते हैं और पुण्य प्राप्त करके इन्द्र के लोक में जा बसते हैं। परन्तु पहिले कहा जा चुका है कि पुण्य-क्षय हो जाने पर उन्हें फिर वापिस आजाना पड़ता है।

गीता हमें वह भी मार्ग बताती है जहां से कभी वापिस नहीं लौटना पड़ता।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति समद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

ब्रह्म-लोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव-वाले हैं अर्थात् जिनको प्राप्त होकर संसार में पुनः आना पड़ता है परन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मुझे प्राप्त हो गए हैं उन्हें फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।

जो पुरुष अन्तकाल में मेरे को ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह मुझे ही पाता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

यह परमेश्वर-प्राप्ति का एक मार्ग है और इसे राज-मार्ग कहा जा सकता है।

दूसरा मार्ग गीता ने यह बताया कि—

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥

मृत्यु समय जब मनुष्य में सतोगुण अधिक रहता है तभी वह ज्ञानियों का उत्तम-लोक प्राप्त करता है।

इसका अभिप्राय यही लेना चाहिये कि जब पुरुष सत्वगुण सम्पन्न होता है तभी वह उत्तम गति का अधिकारी बनता है। न केवल मृत्यु समय में सतोगुणी होने से।

नीच योनि भी भगवत्-आश्रय पाकर परम-गति पा सकतीं हैं।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

मेरा आश्रय पाकर तो स्त्री वैश्य तथा पाप-योनि भी उत्तम गति को प्राप्त होते हैं फिर पुण्यशील ब्राह्मणों की तथा भक्तजन राज ऋषियों की तो बात ही क्या। इसलिये तू इस सुख-रहित नश्वर जगत् में मनुष्य शरीर को पाकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।

आसुरी-योनि में पड़े रहने पर जन्म जन्मान्तर अज्ञान और दुःख ही रहता है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि—

इसलिये गीता में स्वर्ग-प्राप्ति के जो मार्ग बताये गए हैं उनमें वाच्यार्थ का लक्ष्य भिन्न भिन्न पैड़ियों से ही क्रमशः भगवत्-प्राप्ति है। तात्कालिक कल्पना और केवल अन्तिम समय के सुधार से नहीं।

स्वर्ग और नरक दोनों का निर्माण मनुष्य ने किया है। मनुष्य के किये शुभ कर्म, धर्मराज बनकर उसे शुभ की ओर ले जाते हैं, उन्नति की ओर ले जाते हैं और परमगति देते हैं—यही स्वर्ग है। इसी प्रकार मनुष्य के किये हुए अशुभ कर्म, यमदूत बनकर उसे घसीटते हैं, दुखों में डालते हैं और दुर्गति की ओर ले जाते हैं—यही नरक है।

शुभ और सात्विक कर्मों से यह संसार ही स्वर्ग बन जाता है।

# गीता में अर्जुन के नामों का रहस्य

[ लेखक—श्रीयुत दयालीरामजी चोपड़ा ]
रि०—डी० पी० आई० पटियाला
मंत्री, श्रीगीता भवन कुरुक्षेत्र

सर्वभूत-हितकारी परम-कल्याणकारी वृन्दावन-विहारी योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र की पुण्य-भूमि में अर्जुन को निमित्त करके जो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, सार्वभौमिक, सर्वोपयोगी, सर्व-प्रिय और सर्वमान्य उपदेश दिया वह संसार में अद्वितीय है। गीता को कहे गए आज ५००० वर्ष से अधिक हो चुके, परन्तु किसी भी देश में किसी भी समय किसी ने गीता के समान महान् उपदेश दिया हो, ऐसा देखने में नहीं आता। गीता का एक एक श्लोक मंत्र है। शास्त्रकारों ने इसे मंत्र माला कहा है। गीता को व्यावहारिक वेद कहा जा सकता है। इसके प्रत्येक श्लोक और श्लोक के प्रत्येक चरण, चरण के प्रत्येक शब्द, शब्द के प्रत्येक अक्षर और अक्षर की प्रत्येक मात्रा में आश्चर्य भरा है। गीता भगवान् की महानता का साकार स्वरूप है। देशी और विदेशी सभी विद्वानों ने मुक्त कंठ से गीता के गीत गाए हैं। बहुत से लोगों को संदेह हो जाता है कि गीता में कोई शब्द व्यर्थ नहीं है तो भगवान् ने स्थान स्थान पर अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को अनेकों नाम से सम्बोधित किया है उन नामों का भी कोई अर्थ होना चाहिये। एक मनुष्य का एक नाम होता है, परन्तु अर्जुन के १६ नाम गीता में लिये गए इसका क्या कारण है? सम्भव है कि ये नाम श्लोकों को ठीक ठीक बनाने के लिये छन्द निर्माण के नियमों से रख लिये गए हों। इन प्रश्नों का उत्तर भली-भांति समझने के लिये हमें देखना पड़ेगा कि गीता में किस स्थान पर अर्जुन का क्या नाम लिया गया है और उसका अर्थ एवं उपयोग क्या है। एक एक नाम को लेकर उसका अर्थ करते हुए हम यहां दिखायेंगे कि गीता के श्लोकों में जहां जहां वह नाम आया है उसका एक सा ही अर्थ लगता है।

गीता शास्त्र में स्थान स्थान पर अर्जुन के इस प्रकार नाम लिए गए हैं—अर्जुन, कौन्तेय, अनघ, कुरुनन्दन, कुरुसत्तम, कुरुश्रेष्ठ, गुडाकेश, धनंजय, परंतप, पाण्डव, पार्थ, भारत, भरतश्रेष्ठ, भरतर्षभ, भरतसत्तम, महाबाहो।

आगे दिये हुए नक़शे से विदित होगा कि ये नाम किस किस श्लोक में लिए गए हैं।

अब एक एक करके इन नामों की व्याख्या की जाती है—

(१) अर्जुन—

अर्जुन का अर्थ है श्वेत, सफ़ेद, निर्मल। जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो वह अर्जुन कहलाता है। सब से पहले अर्जुन शब्द पहले अध्याय के ४७ वें श्लोक में आया है।

> एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
> विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥

अर्थ—ऐसा कह कर अर्जुन ने धनुष-बाण छोड़ दिया और बहुत दुखी होकर युद्ध के मैदान में रथ के पिछले हिस्से में मुंह मोड़ कर बैठ गए।

इस श्लोक में यह दिखाया गया है कि मोह में कितना बल है। वह अर्जुन जिसका अन्तःकरण बिलकुल साफ़ था, जो कभी मलिन ही नहीं हुआ वह भी मोह में फंस कर दुखी और निराश हो गया और अपना कर्तव्य भूल गया। बड़े से बड़े योगी, महात्मा, वीर, तपस्वी तथा साधु सन्त को भी मोह दुखी कर देता है यही बात यहां 'अर्जुन दुखी हुआ' ऐसा कह कर दिखाई गई है।

इसके बाद दूसरे अध्याय के दूसरे श्लोक में अर्जुन शब्द आया है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं मकीर्तिकरमर्जुन॥

हे अर्जुन! तुम्हें संकट समय में ऐसा अज्ञान क्यों हुआ है। यह आर्य, पुरुषों के योग्य नहीं है और स्वर्ग तथा कीर्ति का नाश करनेवाला है।

यहां भगवान् ने बतलाया कि तुम्हारा नाम अर्जुन है। जो निर्मल है उसमें मैल का क्या काम मोह और अज्ञान का रंग काला है। अर्जुन को मोह कैसे हुआ यही आश्चर्य प्रकट करने के लिये भगवान् ने यहां अर्जुन कहा। अर्थात् अर्जुन या तो तुम अर्जुन होकर रहो मोह को छोड़ दो अन्यथा तुम अर्जुन कैसे रह सकते हो, मोह तो तुम्हारे नाम के विपरीत स्वर्ग सुख और कीर्ति का नाश करनेवाला है।

दूसरे अध्याय के ४५ वें श्लोक में अर्जुन आया है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

इस श्लोक में दिखलाया गया है कि हे अर्जुन! तू अर्जुन है, शुद्ध मन है, तुझे यह जानना चाहिये कि तेरे जैसा निर्मल मन ही तीन गुणों से ऊंचा उठ कर निर्द्वन्द, नित्य सत्य में स्थित, योग क्षेम की चिन्ता से रहित और आत्मवान् होता है। इसमें यही भाव है कि अर्जुन ही अर्थात् निर्मल मनवाला मनुष्य ही संसार में इतना ऊंचा उठ सकता है।

तीसरे अध्याय का ७ वां श्लोक—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्म-योग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।

इस श्लोक में एक प्रकार से अर्जुन के गुण ही बतलाए हैं। निर्मल मनवाला पुरुष इस श्लोक के मुताबिक काम करके अर्जुन होता है, इसलिये हे अर्जुन! तू तो निर्मल मन है ही फिर इसके विपरीत आचरण करने की बात पर ध्यान मत दे।

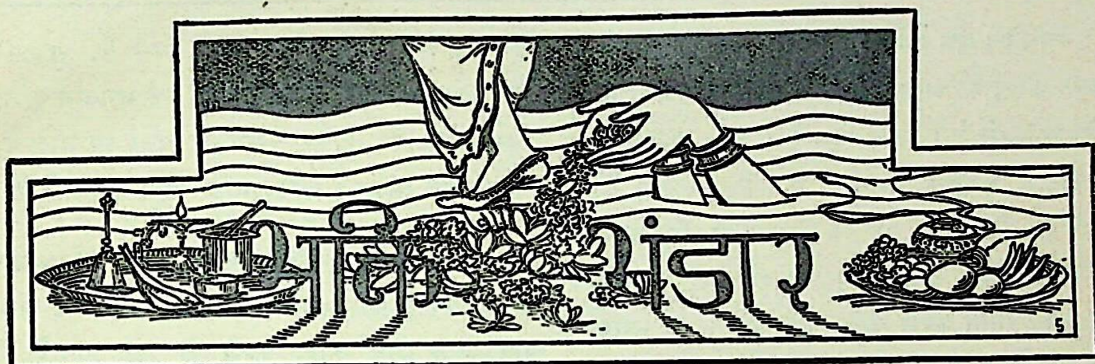
इसके बाद चौथे अध्याय के पांचवें श्लोक में अर्जुन शब्द आया है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं परन्तु मैं उन सब को जानता हूँ और तू नहीं जानता।

यहाँ श्रीभगवान ने आवागमन को सिद्ध करते हुए बताया है कि हे अर्जुन मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। पुराणों के अनुसार अर्जुन नर हैं और श्रीकृष्ण नारायण। नर और नारायण सदैव साथ रहते हैं भगवान् ने अर्जुन कह कर यही सिद्ध किया है कि तू नित्य मेरे साथ में रहनेवाला शुद्ध अन्तःकरण अर्जुन है परन्तु तू अपने आपको भूल रहा है इसलिये ही मुझे भी नहीं जान सकता। अर्जुन! अपने स्वरूप को समझ! मेरी भान्ति तुझे भी सब कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञान हो जायगा। क्रमशः

| नं० अध्याय | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अर्जुन | ४७ | २, ४५ | ७ | ५, ९ ३७ | | १६,३२ ४६ | १६ २६ | १६, २७ | १९ | ३२,३९ ४२ | ४७ ५० ५४ | | | | | | | ९, ३४, ६१ |
| कौन्तेय | २७ | १४, ३७, ६० | ९, ३९ | | २२ | ३५ | ८ | १६ | ७, १० २३, २७ ३१ | | | | १, ३१ | ४, ७ | | २० २२ | | ४८, ५० ६० |
| अनघ | | | ३ | | | | | | | | | | | ६ | २० | | | |
| कुरुनन्दन | | ४१ | | | | ४३ | | | | | | | | १३ | | | | |
| कुरुसत्तम | | | | ३१ | | | | | | | | | | | | | | |
| कुरुश्रेष्ठ | | | | | | | | | | १९ | | | | | | | | |
| गुडाकेश | २४ | ९ | | | | | | | | २० | ७ | | | | | | | |
| धनंजय | १५ | ४८, ४९ | | ४१ | | | ७ | | ९ | ३७ | १४ | ९ | | | | | | २९, ७२ |
| परंतप | | ३, ९ | | २, ५ ३३ | | | २७ | | ३ | ४० | ५४ | | | | | | | ४१ |
| पाण्डव | १४ २० | | | ३५ | | २ | | | | | १३ ५५ | | | २२ | | ५ | | |
| पार्थ | २५ २६ | ३, २१, ३२, ३९ ४२, ५५, ७२ | १६,२२ २३ | ११ ३३ | | ४० | १ १० | ८,१४,१९ २२,२७ | १३, ३२ | २४ | ५,९ | ७ | | | | ४, ६ | २६ २८ | ६, ७२ ३०—३५ ७४, ७८ |
| भारत | २४ | १४, १८ २८, ३० | २५ | ७, ४२ | | | | | | | ६ | | २, ३३ | ३, ८ ९, १० | १९ २० | ३ | ३ | ६२ |
| भरतश्रेष्ठ | | | | | | | | | | | | | | | | | १२ | |
| भरतर्षभ | | | ४१ | | | | ११ १६ | २३ | | | | | २६ | १२ | | | | ३६ |
| भरतसत्तम | | | | | | | | | | | | | | | | | | ४ |
| महाबाहो | | २६, ६८ | २८ ४३ | | ३, ६ | ३५ ३८ | | | | १ | | | | ५ | | | | १३ |




# गीत-गोविन्द

[ लेखक—श्री पं० बालकृष्ण शर्मा धर्मालंकार ]

जूठा भोग भगवान् स्वीकार नहीं करते। ऐसे मनुष्य हैं जो नित्यप्रति भगवान् को भोग लगाकर खाते हैं, परन्तु उस भोग को वासनाओं ने पहिले ही जूठा किया होता है। ऐसे मनुष्य भी हैं जो अपना मन भगवान् में लगाने का दावा करते हैं, परन्तु उनका मन भोगेच्छाओं से पहिले ही जूठा हो जाता है। ऐसे भी जीव हैं जो भगवान् को आत्म-समर्पण करने की बात कहते हैं और रात दिन उसी के होकर रहने की चर्चा करते हैं; परन्तु अन्य-भाव से झूंठे आत्म-समर्पण में भगवान् अनन्यता न देख कर दूर हट जाते हैं।

महर्षियों, महात्माओं और मुनियों द्वारा कहे गए मंत्रों का जप करके, मनुष्य शांति और सिद्धि चाहता है, अनुष्ठान करता है और इच्छित वस्तु के प्राप्त न होने पर कहता है कि इनमें सार नहीं है। वह इस बात को भूल जाता है कि मंत्र-द्रष्टा महर्षियों ने और काव्य-प्रणेता कवियों ने सच्चे त्याग, सदाचार और अनन्यता का भोग लगाकर इन मंत्रों में भगवान् के दर्शन किये थे। परन्तु आज का मानव, स्वार्थ, मनमाना व्यवहार और अहंभाव को लेकर मंत्रों द्वारा पूजा पाठ और भक्ति से देवता को प्रसन्न करना चाहता है। यही असफलता का कारण है।

कवियों द्वारा रचित प्रार्थनाओं को पढ़ कर भगवान् का भोग लग सकता है परन्तु उसी समय जब प्रार्थना में इतनी तन्मयता हो जाय जितनी प्रार्थना के शब्दों का संकलन करने के समय कवि में थी। ऊपरी मन के झूंठे भोग से चाहे वेदों के मंत्रों द्वारा ही प्रार्थना क्यों न की जाय उसकी आवाज भगवान् के कान तक नहीं पहुँचती, कारण भगवान् उस प्रार्थी के अन्तस्तल में ही बैठकर सुनते हैं और जब मनुष्य के अपने अन्दर के हृदय को ही उसकी आवाज नहीं छू पाती तो भगवान् तक कैसे पहुँच सकती है।

तन्मय होकर अन्तर-ध्वनि से चाहे कैसे भी शब्दों में भगवान् को पुकारा जाय, भगवान् के बुलाने में वे शब्द जादू का काम करते हैं। यहां तक कि भगवान् स्वयं ही शब्द-रूप हो जाते हैं अथवा उन शब्दों को अपने अनुरूप बना लेते हैं।

जयदेव एक ऐसे ही कवि थे जिनकी वाणी में अन्तःकरण की आवाज होने के कारण उसमें भगवान् विहार करते थे। एक दिन प्रेम और तन्मयता में शराबोर जयदेव भगवान् के गीत लिखने बैठे। एक पूरा दिन एक पद के लिखने में निकल गया और फिर भी वह पद पूरा न हो पाया। जयदेव थक कर स्नान करने चल दिये परन्तु मन भगवान् के उस गीत की रचना में ही था। जयदेव के उस मन ने भगवान् का साकार रूप धारण किया और उस पद को पूरा कर दिया। स्नान से लौट कर जयदेव अपना सोचा हुआ पाठ लिखने चले तो देखा कि वहां पहिले से ही वह पाठ लिखा हुआ है जैसा वे अब लिखना चाहते थे। कवि की तन्मयता अनन्यता और शुद्ध प्रेम के स्वरूप का यह साक्षात दर्शनथा और यही गीत-गोविन्द के नाम से प्रसिद्ध होकर कवि की कीर्ति को अमर कर गया।

गीत-गोविन्द के मर्म को न समझकर कुछ लोगों ने उसे केवल राधा कृष्ण के प्रेम का श्रृंगार रस में वर्णन समझ लिया है। परन्तु बात इससे बहुत ऊंची है।

इन्द्रियों की प्रिय वस्तुओं और विषयों रूपी गोपियों के बीच में भगवान् कृष्ण रूपी आत्मा है। गोपियां बार बार आत्मा रूपी कृष्ण को आकर्षित करती हैं और कृष्ण उनमें रमण करते हुए भी निर्लेप रहते हैं। राधा ज्ञान और भक्ति से परिपूर्ण एक विशेष शक्ति है जो आत्मा में मिलकर परमानन्द की झांकी देख लेती है और उसी में तन्मय होकर संसार को भूल जाती है। आत्मा रूप कृष्ण इस भक्ति की शक्ति रूप राधा से आकर्षित होकर उसके साथ विहार करके उसे कृतकृत्य करते हैं। जयदेव ने इस अनन्य प्रेम के गीत बनाये। राधा इतने प्रेम बल से भगवान् को प्रताड़ित करती है, बुलाती है, बोलती है और बात करती है कि भगवान् कृष्ण स्वयं आकर्षित होकर राधा के पास आ जाते हैं, और दोनों मिलकर सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाते हैं।

राधा अपने आपको कृष्ण की सबसे अधिक प्रेम की अधिकारिणी समझती है। कृष्ण जब और और गोपियों के साथ क्रीड़ा करने में रम जाते हैं तो राधा को अपने प्रति कृष्ण की यह उपेक्षा खटकती है। परन्तु फिर भी वह कृष्ण से मिलने की चेष्टा करने में कमी नहीं आने देती। इधर कृष्ण का मन भी राधा के प्रेम-भाव से आकर्षित होता है। उन्हें पश्चाताप होता है कि मैं गोप सुन्दरियों से घिरा रह कर राधा से नहीं मिला और वह मुझे गोपियों से घिरा देख कर लौट गई। भगवान् उसका स्मरण करते हैं, मिलने की उत्कंठा बढ़ती है और वे व्याकुल हो जाते हैं।

कृष्ण को मालूम होता है कि राधा उनके विरह में बहुत दीन हो रही है। व्याघ्र से डरी हुई हरिणी की तरह वह भागती है। बन में उसे आग लगी दीखती है और सामने ही शिकारी का जाल देखकर वह व्याकुल हो उठती है और हरि! हरि! केशव! पुकारते पुकारते उसका रोम रोम नाचने लगता है। सीत्कार करती है, कांपती है, गिरती है, मूर्छित होती है पर कृष्ण की रट नहीं छोड़ती। वह समझती है कि कृष्ण किसी अन्य गोपी के साथ विहार कर रहे होंगे। कृष्ण उसे मिलते हैं तो वह फटकारती है कि आपका मन भी आपके शरीर के समान काला है। अन्त में कृष्ण स्वयं राधा से मिलते हैं और दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। जयदेव ने इसी कथा को आध्यात्मिक-भाव में दिखाया है।

राधा रूपी भक्ति और ज्ञान से उत्पन्न शक्ति अपने आपको आत्मा रूपी कृष्ण की सर्वोच्च प्रेम की अधिकारिणी समझती है। आत्मा जब इन्द्रियों की प्रिय वस्तुओं में उलझ जाता है और उनके साथ क्रीड़ा करने में रम जाता है तो राधा रूप शक्ति को आत्मा का यह भाव खटकता है। परन्तु फिर भी वह आत्मा में विहार करने का सतत प्रयत्न करती रहती है। आत्मा भी इस शक्तिरूप राधा की ओर खिंचता है। उसे पश्चाताप होता है कि मैं विषयों की सुन्दरता में घिर कर ज्ञान और भक्ति की शक्ति से दूर रहा और वह शक्ति मुझे विषयों में घिरा देख कर मुझमें न मिल सकी। आत्मा चाहता है कि मैं उस शक्ति से मिलूँ वह उसके लिये व्यग्र हो उठता है। आत्मा को मालूम होता है कि भक्ति और ज्ञान की शक्ति रूप देवी उससे अलग रहने में बहुत दीन हो गई है, वह मायारूप व्याघ्र से डरकर भागती है, चारों ओर अशांति की आग देखती है, और अपने सामने ही स्वार्थ और भव-भय का जाल बिछा पाती है। परन्तु वह शक्ति और भी अधिक प्रेम से हरि! हरि! कृष्ण! कृष्ण! प्रियतम! प्राणप्रिय! कह कर पुकार उठती है, इस प्रेम की मस्ती में भगवान् भी उसके सामने आकर फटकारे जाते हैं, वह कहती है कि मुझे अपने में मस्त रहने दो। भगवान् इस शक्ति की देवी को हृदय से लगाते हैं और दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

कितना सुन्दर वर्णन है। जग जीवन की दौड़ और उसका अन्त इसमें है।

एक दिन एक भाजी बेचनेवाली लड़की खेतों में साग पात चुगती जाती थी और भगवान् के इन मधुर गीतों को गाती जाती थी। वह तितली की तरह गीत गाते गाते यहां से वहां और वहां से यहां चल रही थी, उसका पल्ला हवा में उड़ उड़ कर झाड़ियों में उलझता था, कांटों में घसिटता था, पर उसे इसकी चिन्ता नहीं थी। इधर भगवान् स्वयं उन गीतों को सुनते हुए उसका भोग ग्रहण करने उसके पीछे पीछे दौड़ रहे थे और कांटों से उसका पल्ला छुड़ाते जाते थे कि कहीं भोग जूठा न हो जाय। प्रेम के पीछे पीछे फिरने वाले भगवान् की जय हो।

गीत-गोविन्द की रचना का प्रभाव केवल जयदेवजी पर ही नहीं था वरन् उनकी स्त्री भी उतनी ही भक्त थी।

एक वार एक राजा के बन्धु का देहान्त हो गया उसकी स्त्री उसके साथ सती होने जा रही थी। जयदेवजी की स्त्री ने कहा कि सर्वोत्तम सती-भाव तो इसमें है कि अपने प्रियतम के वियोग में एक क्षण भी जीवित न रहा जाय। चिता में जलकर भस्म होने में तो दोष भी हो सकता है परन्तु अपनी देह से उत्पन्न अग्नि में जलकर भस्म हो जाना और पति के प्राणों में प्राण मिला देना ही सच्चा सतीत्व है। रानी को यह बात बुरी लगी और उसने एक दिन अवसर पाकर जयदेवजी की स्त्री पद्मावती से कहा कि तुम्हारे पति राजा के साथ देव-दर्शन के लिये गए थे और वहां अचानक उनकी मृत्यु हो गई है। पद्मावती ने उसी समय अपने शरीर से पतिव्रत-धर्म की अग्नि प्रकट की और उसमें अपनी आहुति दे डाली। रानी के कपट व्यवहार से राजा ने उसे त्याग दिया। जयदेव को भी यह समाचार मिला। उन्हें भगवान् पर पूरा भरोसा था। अपनी धर्मपत्नी के पास बैठकर जैसे-जैसे उन्होंने जीवन जागृत करनेवाले भगवान् के गीत गाए वैसे-वैसे ही पद्मावती को चेत होता गया। भगवान् के नाम में विलक्षण ही शक्ति है।

भक्त के लगाए हुए सच्चे भोग को लिये बिना भगवान् रह नहीं सकते और जूठे भोग के पास आ नहीं सकते। अतः यदि भगवान की लीला का दर्शन करना है तो सच्चे मन, वचन कर्म और चेष्टाओं का भोग लगाकर उसे प्रसन्न करो।

# भगवत् प्रेम

[ ले०—श्री कपिलदेव शर्मा ]

प्रेम मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जिस प्रकार समुद्र चन्द्रमा के आकर्षण का अनुभव करता है। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार हम भी एक दूसरे को प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं, जो हमसे दूर है, उसे निकट बुलाते हैं और जो सन्निकट है, उसे हृदय में छिपाकर रखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु यह हो नहीं पाता। एक मायिक विरह हमें पृथक् कर देता है। यद्यपि जग में प्रिय से प्रिय के अन्तर का भी पता नहीं लगता, फिर भी मनुष्य प्रेम करना चाहता है।

चाहे जिस भाव से हो, प्रत्येक प्राणी एक दूसरे के लिये व्याकुल रहता है। इसी प्रकार यह अखिल विश्व एक दुर्ज्ञेय परम पुरुष के विरह का अनुभव करता है। आकांक्षा होती है कि उस आनन्दघन के साथ मिलनानन्द का रस उमड़ पड़े, पर न जाने क्यों एक विच्छेद की काली छाया व्यवधान कर देती है। यह व्यवधान आज भी उसी रूप से विद्यमान है।

वैष्णव आचार्यों का कथन है कि, श्रीकृष्ण विश्व के कारण हैं और परम-पुरुष हैं। वे अपने सौन्दर्य का, अपने माधुर्य्य का उपभोग करने के लिये द्वापर युग में स्वतः विभक्त हुए थे। श्री राधा उन्हीं की अंश हैं, उन्हीं की आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रुति में भी इसी प्रकार का सामंजस्य मिलता है—

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।'

किन्तु श्रीराधा केवल श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति ही नहीं वरन् वे मूर्त प्रेम हैं। उपनिषद् के साथ सम्बन्ध कर लेने पर इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है कि, श्रीकृष्ण परमात्मा हैं और श्रीराधा अखिल जीवात्मा की प्रतीक हैं। और, परमात्मा जीवात्मा के विच्छेद की जो बात पूर्व में कही जा चुकी है, वही प्रस्फुटित हुई है—श्रीराधा के विरह में। अतः जिस प्रकार केवल प्रेम के बल से श्रीराधा ने श्रीकृष्ण पर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार हम प्रेम के विनिमय में भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं।

वैष्णव-मत से भगवत्-प्रेम शान्त, दास्य सख्य, वात्सल्य और मधुरभाव से चरितार्थ होता है। शान्तभाव भीष्म का, दास्य विदुर का, सख्य ग्वाल बालों का, वात्सल्य यशोदा का और मधुरभाव श्री राधा आदि व्रजांगनाओं का। पति-पत्नी में जो मधुर भाव विद्यमान रहता है, वही मधुरभाव है और वही सब भावों से श्रेष्ठ भी है। भगवान् को प्रियतम समझ कर साधक जिस अनुपम भाव की उपलब्धि करता है, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। किन्तु इस भाव की उपलब्धि सरल नहीं। यह प्रेम सर्वदा निष्काम हो, अहंकार, एवं, व्यक्तित्व शून्य हो, तभी हम उनके निकट तक पहुंचने का श्रेय प्राप्त कर सकते हैं।

॥ श्री शंकर ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यान्वयसंजाताभिनवपञ्चगङ्गातीरवासि-
कमलानिकेतन करवीर सिंहासनाधीश्वर

## श्री १००८ श्री स्वामी विद्याशङ्कर भारती जी महाराज

का

# शुभ-सन्देश

मासिकेनसह पत्रमपि संप्राप्तम्। विदितश्च युष्माकं मनोदयः। कल्पना च युद्धाङ्कस्य विषयानुक्रमणिकां समवलोक्य समीचीना ज्ञानवर्धिनी उपदेशयुक्ता च प्रतिभाति।

सत्यमेव 'मानवजीवनं अहरहः युद्धमयं' सर्वैरनुभूयते। युद्धे चास्मिन् विजय-सम्पादनार्थं धर्मं विना अन्योपायः कुत्रापि नैवोपलभ्यते। शास्त्रे च स्पष्टतया एवमेव प्रतिपादितम्। यदा किल देवासुराणां युद्धमभू त्तदा असुराणांमुपरि विजय सम्पादनार्थं देवा यदा धर्मं शरणं गता स्तदैव तेषां विजयो वभूवेति।

यद्यप्यधुना धार्मिका निर्धना निर्वला निरुत्साहिनो दृश्यन्ते परन्तु न ते तथा। भस्मनाच्छादित जातवेद इव गुप्तं धाम तेषां। तदेव तैः सदाचारादिना संवर्धनीयम्। तदेव मानवयुद्धे विजयसम्पादक मित्यस्माकं निश्चयः।

इममेवोद्देशं मनसि निधाय युद्धांकेऽपि अस्यैव प्रदर्शनं भवता क्रियते इति समवलोक्य अतीवाभूत्सन्तोषः।

कार्य मिदं भगवत्कृपया सर्वथा सफली भवत्विति श्रीशारदाम्बाचन्द्रमौलीश्वरपादयोः प्रार्थया महे।

युद्धाङ्क की विषयानुक्रमणिका देखकर हम निसन्देह कह सकते हैं कि आपकी युद्धाङ्क प्रकाशन की आयोजना वर्तमान समय के लिये उपयुक्त एवं ज्ञानप्रद है।

यह सर्वथा सत्य तथा अनुभूत है कि मानव जीवन युद्धमय है। इस जीवन-युद्ध में "धर्म की शरण" के बिना विजय का कोई उपाय नहीं है। यही धर्मशास्त्र का आदेश है। जब देवों तथा असुरों का संग्राम हुआ तब देवता धर्म की शरण लेकर ही विजयी हुए।

यद्यपि इस समय प्रायः धार्मिक लोग ही निर्धन, निर्बल एवं निरुत्साही दीखते हैं परन्तु वस्तुतः ये भस्माच्छादित अग्नि के समान हैं। अतः सदाचार के उपदेश द्वारा इन धार्मिकों की निर्बलता आदि हटाकर इन्हें अपने स्वरूप में लाना चाहिये। अपने स्वरूप से परिचित मानव-समाज ही जीवन-युद्ध में विजयी हो सकता है—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

इसी उद्देश्य से आप मानवधर्म प्रकाशित कर रहे हैं, यह देखकर हमारा मन अतीव सन्तुष्ट है।

"आपका यह कार्य सर्वथा सफल हो" यही श्री शारदाम्बाचन्द्रमौलीश्वर के चरणों में हमारी प्रार्थना है।

श्री मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १००८ श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीगोवर्धन पीठाधीश्वर

# श्रीस्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, पुरी

संसार के समस्त धर्म किसी न किसी पुरुष विशेष द्वारा चलाये गये हैं। अतः उनमें जहां तक पुरुष की पहुंच हो सकती है वहीं तक का ज्ञान है। पुरुषों के साथ ही उनके कार्यों का भी अन्त होना सम्भव है। परन्तु जो धर्म अनादि काल से चला आता है जिसके संस्थापक का कोई पता ही नहीं लगता कि उसने कब कहां जाकर उस धर्म को बनाया और चलाया वही धर्म माननीय है, सनातन है और मानवधर्म है। दुनियाँ के किसी भी इतिहास में, धर्मग्रन्थ में अथवा इमारतों में सनातनधर्म के प्रवर्तक का नाम स्थान जन्म पता आदि नहीं मिलेगा।

संसार में अनेक धर्म के माननेवाले हुए अनेक सभ्यताएँ और सम्प्रदाय हुए पर वे सब नष्ट होगये। अनन्त काल से जो एक रस रहकर उन्हीं सत्य सिद्धान्तों पर चला आ रहा है वही धर्म मानने के योग्य है।

इस धर्म की एक विशेषता यह है कि किसी प्रकार भी इसकी हानि होते ही जैसे टूटी हुई इमारतों की शीघ्र ही मरम्मत का प्रबन्ध होता है इसी प्रकार—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

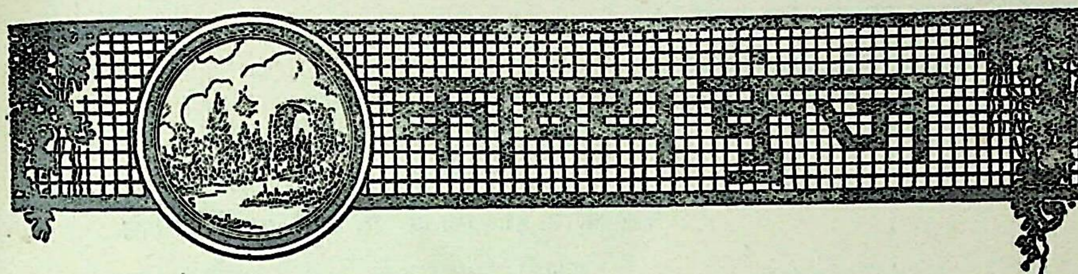
इस धर्म महल को अपने मूल रूप में लाने के लिये जब जब आवश्यकता होती है भगवान् स्वयं आते हैं। महापुरुष अवतीर्ण होते हैं और इस धर्म के सिपाही बनकर इसकी ध्वजा फहराते हैं।

जिस धर्म की रक्षा भगवान् करते हैं। उसकी सेवा करने में मनुष्यमात्र का कल्याण है। जो लोग कहते हैं कि हम धर्म की रक्षा करते हैं या धर्म का उद्धार करते हैं वे भूल करते हैं। धर्म की रक्षा और उद्धार तो स्वयं भगवान् करते हैं, हमें तो सेवा करनी चाहिये। यदि हम धर्म की सेवा करेंगे उसकी आज्ञा पर चलेंगे, उसकी शरण में रहेंगे, ईमानदारी से उसके वफादार होकर रहेंगे तो भगवान् धर्म के साथ हमारे भी रक्षक होंगे और हम निर्भय विचर सकेंगे। अतः धर्म की सेवा करो उसमें सुधार या उसके उद्धार का कोई अर्थ ही नहीं है। और न मनुष्य की इतनी पहुंच और सामर्थ्य ही है कि वह सत्य में कुछ सुधार कर सके सुधार असत् और विकारी में ही हो सकता है। अतः विकारवान् संसार का सुधार करके उसे सत्य सनातन अखंड धर्म की सेवा में लगाना चाहिये।

भगवान् के धर्म का रहस्य समझने की योग्यता आज किसमें है? ईश्वर की कही हुई बातें और उसका ज्ञान विश्व के कण कण में व्याप्त है। अनधिकारी मनुष्य केवल चलते फिरते, उठते बैठते, मनोरंजन में उस ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकते हैं जिसके लिये निरन्तर साधन और तप की आवश्यकता है। आज तो एक साधारण से साधारण मनुष्य भी धर्म का जाननेवाला और धर्म पर आक्षेप करनेवाला बन बैठता है। परन्तु यह सम्भव नहीं कि एक इन्जीनियर एक डाक्टर का कार्य कर सके। इसी प्रकार जिसने धर्म के बारे में कुछ सोचा नहीं, सुना नहीं, सीखा नहीं, उसे धर्म की बात अथवा उस पर दोषारोपण करने का अधिकार नहीं है।

धर्म-मार्ग पर आरूढ़ होने में ही जीवन की सफलता और सार्थकता है।

( प्रे० भक्त रामशरणदासजी )



# परिवर्तन

[ ले०—श्री कवीन्द्र नाथूराम जी माहौर ]

दुनियाँ के बड़े दिल दानियों में,
नृप कर्ण दधीच से दानी कहाँ।
शुक व्यास वसिष्ठ से देव स्वरूप,
अनूप गुणी गुरु ज्ञानी कहाँ॥
मन वांछित थे फल प्राप्त जहाँ,
अब प्राप्त वहाँ मनमानी कहाँ।
जहँ शत्रु संहारिणीं नारियाँ थीं,
वहँ भव्य विभूति भवानी कहाँ॥ १॥

जहँ जोम से जंग में नाचती थी,
वह नृत्यनी तेग हैं जंगी कहाँ।
रहने लगे क्रूर कुसंगी जहाँ,
सत्संग के संगी प्रसंगी कहाँ॥
करते रहे भंग सुरारियों को,
असुरारी मुरारी त्रिभंगी कहाँ।
सित रंग के अंगी उमंगी जहाँ,
वहाँ श्यामले रंग के रंगी कहाँ॥ २॥

बनीं संसृत की मनोंहारिणी थी,
वह शत्रु–संहारिणी शक्ति कहाँ।
भव कारिणीं कीर्ति प्रसारणीं थीं,
भव की भव-तारिणीं भक्ति कहाँ॥
सुख-सम्पत्ति शान्ति का सिन्धु जहाँ,
वह स्वर्ण सुगंधि का जक्त कहाँ।
द्विज गोधनों के घने घातिकों का,
वह घातिकी है अब रक्त कहाँ॥ ३॥

नित दुग्ध पिलाकर पाले रहे,
डसने को वही फणवाले बने।
परमार्थियों के प्रिय प्राण सदा,
हरने के लिये प्रण वाले बने।
हर के कला कौशल की कुशला,
सकलोन्नति के धन वाले बने॥
जगदीश ! हो कैसे निवाह जहाँ,
बिन भोजन, भोजन वाले बने॥४॥

वनराज समक्ष में गीदड़ों को,
किये लक्ष विपक्ष में बोलते देखा।
मणियों से रचे सुर मन्दिरों में,
असुरों को सदा अब डोलते देखा॥
जगदीश है क्या यही न्याय तेरा,
कण को तन वज्र का छोलते देखा।
कुल कालों के शीश पे दादुरों को,
सकुटुम्ब के आज कलोलते देखा॥ ५॥

# एकाकी पथ काटे न कटे ।

हो कोई साथी साथ अगर
मन पथ से हट उसमें तत्पर
चाहे कितना ही लम्बा हो पथ बातों बातों में निपटे
एकाकी पथ काटे न कटे ॥ १ ॥

पथ कितना ही हो विपदालय,
गिरि-सरि-सागर- घन वन मरुमय
पहले ही पग मंजिल मिलती जब दो दिल चलते सटे सटे
एकाकी पथ काटे न कटे ॥ २ ॥

तन-कल्पलता, साँसें-परिमल,
स्मित-कुसुमावलि, पायल-कोयल,
वाणी-वीणा,पीयूष-परस-साथी मरु-नन्दन में पलटे ।
एकाकी पथ काटे न कटे ॥ ३ ॥

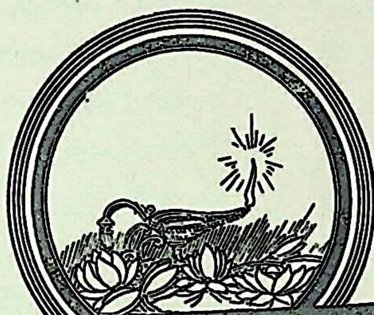
कल्पित साथी का अंचल धर
मैं चल निकला बीहड़ पथ पर,
वह साथी भी लो! लोप हुआ जब पथ के ज्वालामुखी फटे
एकाकी पथ काटे न कटे ॥ ४ ॥

जब निशि दिन दोनों थे उज्ज्वल,
संग थी छाया मेरे प्रति पल,
अब वह भी संग नहीं जब हैं रातें काली दिन मेघ-पटे ।
एकाकी पथ काटे न कटे ॥ ५ ॥

मैं जितना आगे को जाता,
पथ खो उतना वापिस आता,
युग बीत गये चलते चलते, पर मार्ग न दो भी हाथ घटे
एकाकी पथ काटे न कटे ॥ ६ ॥

बन जाऊँ मैं पथ का पत्थर,
पथ का कटना दुष्कर दूभर,
मैं तो मंजिल की ओर बढ़ूँ औ मंजिल मुझसे दूर हटे ।
एकाकी पथ काटे न कटे ॥ ७ ॥

रचयिता—कविबर श्री 'चिरंजीत'







# महिलाओं की महानता

[ ले०—श्री पं० केदारनाथ ]

प्रत्येक जीवन में एक आकर्षण होता है। धारा में बहने वाले पत्थर जैसे चिकने सुन्दर और गोल शालिग्राम की आकृति के बन जाते हैं इसी प्रकार जिस धारा में जो बहता है उसका रूप, रंग आकृति वैसी ही बन जाती है। जैसा जो बन जाता है वैसा ही उसका तेज, प्रभाव और आकर्षण होता है।

जीवन की अनन्त धाराओं में मनुष्य बहता है। तैरता है, गोते खाता है और यदि वह धारा के वेग प्रभाव और प्रवाह से अनजान होता है तो डूब भी जाता है।

जीवन-धारा के किनारे एक दिव्य आश्रम है। इसमें प्रेम का सदावर्त खुला हुआ है इसकी रक्षा पुरुष के सहयोग से स्त्री करती है। पालन, पोषण, संचालन, प्रबन्ध सब में आधा आधा भार पुरुष और स्त्री दोनों अपने कन्धों पर ले लेते हैं। जीवन जल से सिंचित यह आश्रम फूल फल देता है और संसार की यही शोभा है, इसके बिना संसार सूना है। इसका नाम गृहस्थाश्रम है।

## गृहस्थाश्रम की रानी

इस आश्रम की रानीकी एक अनोखी कहानी है। भगवान् की कुछ विशेष शक्तियाँ हैं जिनके सहारे वे सुख का स्वर्ग बसाये रखते हैं। इन शक्तियों के विकृत होते ही स्वर्ग उजड़ जाता है; कल्पवृक्ष निपात होने लगता है और गंगा कृशतन हो जाती है। भगवान् ने इन शक्तियों को आज्ञा दी कि जाओ तुम संसार में जाकर प्रत्येक घर में स्वर्ग का सुख प्रदान करो। शक्तियों ने अनन्त रूप धारण किये और अनन्त गृहों की रानी बनकर उनमें स्वर्ग का सुख बरसाने के लिये अवतीर्ण हुईं। इस प्रकार कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा, लज्जा, दया, चंचलता, नम्रता, शीलता और प्रेम ने महिलाओं केरूप धारण किये।

पुरुष ने इन शक्तियों का आदर किया उसे ऐसा

भान होने लगा मानो भगवान् ने उसकी सफलता के लिये उपहार भेजा हो। वास्तव में **स्त्री पुरुष-जीवन की सफलता है, प्रेम की प्रतिमा है, कीर्ति की ध्वजा है, लज्जा की सुकुमारी है, नम्रता की मूर्ति है, दया की देवी है, शील की खान है, घर की श्री है, गृह संचालन की शक्ति है और चंचलता की मूर्ति है।**

**स्त्री पुरुष की कीर्ति है—**

कुल की कीर्ति-पताका उन माताओं के हाथ में है जो बलवान्, सदाचारी, निडर, साहसी, भगवत्-भक्त, और देश सेवक, सपूत उत्पन्न करके अपना नाम अमर कर जाती हैं। पुरुषों का इतिहास केवल उन वीर माताओं के कारण बना है जिन्होंने देश की मांग को अपनी कोख से पूरा किया इसलिये—

जननी जनै तो लाल जन कै दाता कै शूर।

सीता, सती, सावित्री द्रौपदी, पद्मिनी, लक्ष्मीबाई, आदि महिलाओं ने अपनी कीर्ति को प्राणों से भी अधिक प्रिय समझा और इसीलिये उनके चरित्र अमर हैं।

जिसका यश और जिसकी कीर्ति भ्रष्ट है वह पुरुष या स्त्री जीवित ही मृतक के समान है।

**स्त्री घर की श्री है—**

पुरुष जो कुछ उत्पन्न करता है स्त्री उसकी रक्षा करती है। स्त्री विहीन घर में श्री नहीं रहती ऐसा देखा जाता है। पुरुष उछृङ्खल, अनियमित और कभी-कभी असंयमी तक हो जाता है, उसका जीवन नीरस रहता है। घर की लक्ष्मी न केवल जीवन को सरस ही बनाती है बल्कि जीवन को सफल, प्रतिभाशाली, ऐश्वर्य-सम्पन्न और सुखपूर्ण बनाती है। घर की देखभाल व्यवस्था, हिसाब किताब, बच्चों का लालन-पालन, सदाचार की शिक्षा और सम्पन्नता के साधन कुशल महिलाएँ ही जुटाती हैं।

महिलाओं का स्वरूप लक्ष्मी जैसा कहाँ होता है यह भी जानना आवश्यक है—

श्री लक्ष्मीजी ने स्वयं कहा है कि हे प्राणाधार केशव! मैं वहीं निवास करती हूँ जहां स्त्रियां सदाचार से व्यवहार करती हों। पति प्रेम-परायणा हों, मेरी भाँति सदा आपकी सेवा करनेवाली हों, निर्मल पवित्र रहती हों और कभी कलह न करती हों। हे नारायण मैं कलह से कोसों दूर भागती हूँ। स्त्री पुरुष में, सास बहू में, भाभी ननद में, देवरानी जिठानी में कलह होते ही मैं इस प्रकार उन स्त्रियों में से निकल आती हूँ जैसे अयोग्य शरीर में से आत्मा।

जो स्त्रियां घर का काम करने में दत्तचित्त रहती हों, अन्न पीसती हों, पानी भरती हों, भोजन बनाकर प्रेम से परिवार को खिलाती हों, हे! वासुदेव मैं उन्हीं में निवास करती हूँ।

कितनी महत्वपूर्ण यह चर्चा है। कार्य करने में लक्ष्मी का निवास है। जिस समय महिलाऐं घर के काम धन्धे करने में गौरव समझती थीं तब भारत में कण रहित निस्तेज बनादेनेवाला चक्की का पिसा आटा खाकर हमारे युवकों के मेदे ख़राब नहीं होते थे। प्राचीन समय की बात तो जाने दीजिये अभी दो पीढ़ी पहिले के पुरखों की जो ख़ुराक थी वह आज हमारी नहीं है और न हम में उतना बुद्धि-बल है।

स्त्रियाँ जब गौ सेवा करके प्रातःकाल माखन निकाल कर बालकों को खिलाती थीं तो यहाँ घर घर कृष्ण के दर्शन होते थे। यहाँ तक कि माखन खाने वाले कृष्ण रूप ही दीखते थे। पर जब से स्त्रियों ने

यह कार्य छोड़ा है, भारत के दुर्भाग्य ने वनस्पती के कारखाने खुलवा दिये और नब्बे प्रतिशत युवक निस्तेज वीर्य्यहीन और पराक्रम शून्य होगये। स्त्रियों को तपेदिक, हिस्टीरिया आदि रोग इसी कारण रहने लगे हैं कि उन्हें जीवन में न कोई व्यायाम करने का अवकाश मिलता और न बलवर्धक भोजन। बलवान् माता पिता ही बलवान् सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। बल और पराक्रम से ही धन कमाया जाता है। इसी कारण कर्म करनेवाली स्त्री में लक्ष्मी का निवास है।

### लक्ष्मी स्त्री रूप होकर किन पुरुषों के पास रहती है?

जो पुरुष अपनी शुभ कमाई से सन्तुष्ट रहता है, सबसे प्रिय वचन बोलता है, स्त्रियों, बालकों और वृद्धों की मान मर्य्यादा रखता है, आलस्य रहित, बलवान्, इन्द्रियजीत और विद्या विनय सम्पन्न है। उसके पास लक्ष्मी रहती है।

जहाँ स्त्रियों का मान नहीं होता उन्हें दासी समझा जाता है उनका अपमान या अवहेलना की जाती है वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती।

जहाँ लक्ष्मी नहीं रहती वहाँ चाहे कितना ही बल और विद्या हो परन्तु उससे सम्पन्नता और वृद्धि तथा सुख प्राप्त नहीं होता।

इसी प्रकार वाणी महिलाओं में विराजती है।

वे ही स्त्रियाँ सरस्वती स्वरूप प्रखर बुद्धिवाली होती हैं जिनकी वाणी पवित्र, विनम्र और शीलता को लिये हुए हो। जो रात दिन अपने शब्दों से दूसरों का हृदय दुखाती हों, जिसके स्वर में मिठास और प्रेम न हो, वे संसार में कलह और अशान्ति फैलाती हैं। स्त्रियों की बातों से भारतवर्ष में बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुई हैं। द्रोपदी यदि दुर्योधन को अन्धे का अन्धा कहकर कटु शब्दों में न बोलती तो सम्भव है कि महाभारत जैसा घातक युद्ध न होता।

स्त्रियों को चाहिये कि—

ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपौ शीतल होय॥

मीठे वचन, सत्य वचन, विनम्र और बुद्धिमानी के वचनों में ही महिलाओं की महानता है।

### स्त्रियाँ दया की देवी हैं—

जहाँ दया तहँ धर्म है। दीन दुखियों पर दया, सब की सेवा और उपकार के लिये ही स्त्रियों ने शरीर धारण किया है। स्वयं अपने लिये कुछ न करके बालकपन में पिता माता की सेवा, जवानी में पति और सास स्वसुर की सेवा, बुढ़ापे में पुत्रों की सेवा और सारी आयु जनता जनार्दन की सेवा में ही महिलाओं का जीवन व्यतीत होता है।

महिलाओं का अन्तःकरण इतना कोमल होता है कि वे कभी किसी प्रकार किसी का दुख देख ही नहीं सकतीं। भगवान् को भी यह कहना पड़ा कि मैं दया-द्रवित होकर भक्तों की रक्षा ऐसे करता हूँ जैसे माता पुत्र की—

करहुँ सदा तिनकी रखवारी।
जिमि बालक पालहि महितारी॥

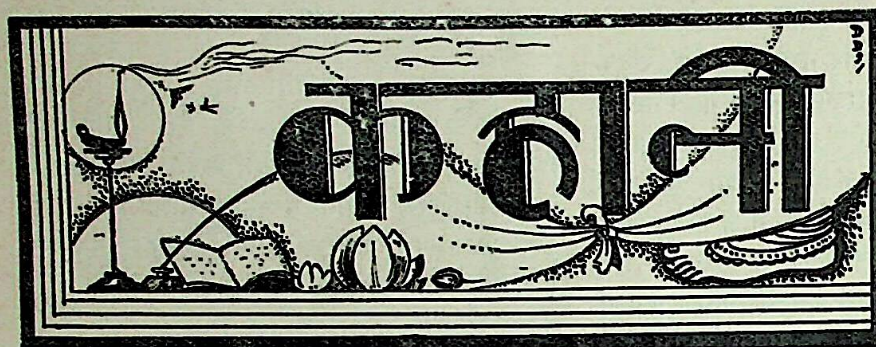
आज भी स्त्रियों में यह गुण देखकर योरुप आदि देशों में पीड़ितों, रोगियों और जख्मियों की सेवा करने के लिये महिलाओं से ही प्रार्थना की जाती है।

### लज्जा की सुकुमारी—

महिलाओं में लज्जा प्रधान विभूति है। लज्जा के बिना स्त्री उसी प्रकार है जैसे जल के बिना नदी। लज्जा स्त्रियों का भूषण है और इसी के कारण उनके सतीत्व तथा धर्म की रक्षा होती है। पर पुरुष की ओर वे आँख उठाकर भी नहीं देखतीं। उनका शील स्वभाव, अनन्य प्रेम और सुन्दर स्वरूप लज्जा से दूनी शोभा पाता है। अपने इस गुण से वे पावनता की प्रतिमा बनी रहती हैं।

आज भी भारत का मस्तक ऊँचा करनेवाली इन देवियों में ये गुण विद्यमान हैं। भारत का धर्म, और भारत की सभ्यता, इन गुणों से सम्पन्न महिलाओं द्वारा ही सुरक्षित है।

भगवान् इन देवियों में वह बल दे कि इनकी पावन, सरल, प्रेममयी और निष्कपट सेवा से ओत-प्रोत जीवन भारत में पुनः स्वर्ण-प्रभात लाये।




# भगवान् की रक्षा

[ लेखक—श्रीयुत पं० श्रीराम तिवारी ]

'किस अज्ञात अमृत-वाणी से मेरे कर्ण-कुहर गुंजरित हो रहे हैं।' कहता हुआ, गोविन्द आँखें मलकर विस्तर पर उठ कर बैठ गया।

भगवान् भास्कर अपनी तरुण किरणों से संसार का तिमिर नाश करने का प्रयत्न कर रहे थे। प्रकृति ने भी भगवान् सूर्य के स्वागत के लिये अनुपम साज सजाया था। पुष्प प्रफुल्लता में परिपूर्ण विकसित थे, मानों संसार को अपना सा बनने का आदेश दे रहे हों। प्रातः काल की मन्द मन्द पवन प्रवाहित हो रही थी।

चैत्र का महीना था। टेसू के पुष्प अपनी छटा से संसार की सुन्दरता को नीचा दिखाने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहे थे। सूखी सी छोटी घास, नन्हे-नन्हे जलकणों का भार वहन कर रही थी। वह जलकण मानों सुप्त आत्मा के आँसू हों। वहाँ का वायु संसार के वक्षस्थल पर, धनिकों के काले-कारनामों के उपसंहार में, दुखियों की आह के परिणाम में—मानों बहकर कह रही हो—'संसार नाशवान् है, एक दिन तुम्हारी भी दशा मेरी ही भांति होगी, फिर यह गर्व क्यों?' पर प्रकृति के इस मूक वेदना पूर्ण स्वर को सुनने वाला कौन है? भला इतना अवकाश किसे, जो संसार का यह पुराना अरुचिकर सन्देश सुने।

गोविन्द, ढाक के पत्तों और डंठलों से आच्छादित कुटी से बाहर निकला। चादरा, जो उसके लिये राजाओं के रेशमी दुपट्टे के समान था, फटकार कर कंधे पर डाल लिया और कुछ अन्मनस्क भाव लेकर पेड़ की एक झुकी हुई डाल पर जा बैठा। उसकी स्थिर मूर्ति को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह मनुष्य है।

उसका हृदय किसी गम्भीर चिता-चिंता में उत्तप्त होने लगा। वह तने से टिक कर सोचने लगा—'कौन कह रहा था मुझसे, बेटा उठ! चल मेरे साथ!! तुझे शांति मिलेगी!!! ठीक ध्यान में नहीं आता; कदाचित्—त्रिशूल उनके हाथ में था। उनकी लहराती हुई लटें, कंधों पर होती हुई पीठ और विशाल वक्षस्थल पर बिखरीं थीं। उनका व्याघ्र-चर्म धोती के अभाव की पूर्ति कर रहा था। पैरों में खड़ाऊं थीं। क्या वह साधू थे? नहीं, नहीं! वह साधू नहीं थे। भला साधू और सर्पों की माला। असम्भव! वह साधू नहीं हो सकते। साथ में कोई देवीजी भी थीं। मानो सारा संसार उसी एक

शक्ति के आधीन हो। उनकी वह कृपा-दृष्टि मुझे भूले हुए मातृ-स्नेह की सुधि दिला रही है।' देर तक बैठा वह सोचता रहा, जब कुछ ध्यान में न आया, तो एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर उठा और किसी अज्ञात दिशा में चल पड़ा, जैसे वह किसी के विषय में कुछ जान सका हो।

× × ×

गोविन्द एक सम्पन्न घराने का लड़का था। कुछ पुरानी जमींदारी भी थी। अपने पिता-माता की सुख-पूर्ण गोद में उसका बाल-जीवन व्यतीत हो रहा था। नौकर उसे गाड़ी में बिठाकर प्रकृति-छटा-पर्य्यवेक्षण-हेतु ले जाता। गोविन्द एक अतीव चुहल के साथ पुष्प-चयन करता, वनदेवी एक विकट अट्टहास के साथ उसके भावी जीवन की भयंकरता का परिचय कराती। वह पुष्पों को मसल कर एक ओर फेंक देता, पुष्प भी करुणा-पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर ताकते रह जाते।

वह पाँच वर्ष का भी न होने पाया था कि स्नेह-मयी माता सदा के लिये उसे अपनी गोदी से विलग कर चल बसी। उसका सच्चा हितैषी, उसके दुख को अपना दुख और सुख को अपना सुख समझने वाला संसार में कोई न था। स्नेह से वंचित, मातृ-विहीन गोविन्द अपने दिन व्यतीत कर रहा था। किन्तु दुर्भाग्य ने अभी भी उसका पीछा न छोड़ा। केवल बारहवें वर्ष में प्रवेश करते करते उसे अपने पिता के लिये श्वेत वस्त्र धारण करने पड़े। संसार में अब उसे अपना कहने वाला कोई न था। गोविन्द ने अपने जीवन में आज पहली बार देखा और समझा कि संसार मिथ्या है, प्रपंच है और छल पूर्ण है। कल के दिन जो उसके पिता का, उनकी जमींदारी में आतंक था, लोग उनसे स्वप्न में भी डरते थे, आज उनका शासन सदा के लिये विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया। आज उनसे डरने वाला कोई न था। और वे भी ऐसे प्रदेश में थे, जहां छोटे बड़े में कोई भेद न था। न कोई जमींदार था, और न कोई प्रजा। वहां सभी समान व्यवहार के अधिकारी थे।

जिस समय गोविन्द के पिता का स्वर्गवास हुआ वह उस समय कक्षा दो में विद्याध्ययन कर रहा था। सब प्रकार कठिन स्थितियों का सामना करते हुए उसे अपनी ग्राम-पाठशाला की चौथी कक्षा तक अपने अधूरे अध्ययन पर ही सन्तोष करना पड़ा।

जमींदारी, विषय-लोलुप चाचाओं की साधें फिजूल खर्ची और वारुणीदेवी की तरंगों में स्वाहा हो चुकी थीं। न आज उसके लिये कोई नौकर था, न घोड़ा गाड़ी, और न वह पुष्प-चयन का ही मनोरंजन। अब उसके सामने अपने कठोर भविष्य को समाप्त करने का कठिन प्रश्न था। ज्यों ज्यों वह अपनी जीवन-ग्रन्थि को सुलझाने का प्रयत्न करता, वह और और उलझती चली जाती।

समय बड़ा बलवान् है। वह कभी किसी को एक अवस्था में नहीं रहने देता। आज गोविन्द के लिये वह समय उपस्थित था, जबकि उसे अपने पूर्वजों के अतीत गौरव-स्वरूप, अपनी बाल-क्रीड़ा की रंगस्थली, जननी जन्म-भूमि और अपमान स्वरूप तिमंजले पितृ-गृह को अंतिम नमस्कार करने के लिये विवश होना पड़ा।

× × × ×

दुःख में भक्ति की भूमि दृढ़ होती है और अनन्यता का बीजारोपण होता है। सुख में मनुष्य पाखण्ड, नीति और छल का अवलम्बन करके भगवान् की भक्ति का बाना भले ही धारण करे, पर उसका हृदय प्रेम-शून्य रहता है।

गोविन्द का नित्य-नियम था कि प्रातःकाल उठ कर गोदावरी के शीतल जल से नित्य-कर्म करता, स्नान के पश्चात् मिट्टी के पात्र में जल, और सूखे, हरे-कच्चे वन फल ले जाता। प्रेमोन्मत्त गा गा कर भगवान् शंकर का अर्चन-वंदन करता। स्नान कराता, चारु चंदन की खौर निकालता, धतूरे के फूलों का मुकुट बांधता और उन्हीं सूखे वन-फलों का भोग लगाकर स्तुति करता- 'भगवन्! दीन की सेवा स्वीकार हो।' शिखर से ध्वनि होती—'वत्स सुखी रहो!'

पाखण्डी लोगों के लिये यह बात असह्य थी। उनका विश्वास था, कि हम लोगों से बढ़ कर भगवान् का भक्त कोई अन्य नहीं हो सकता। क्योंकि हम इधर प्रातः से मध्याह्न तक, और उधर अपराह्नकाल से सायंकाल तक भजन करते हैं, भला हमसे अधिक भक्ति का अधिकारी और कौन हो सकता है? किन्तु गोविन्द ने उनके इस मिथ्याभिमान पर पानी फेर दिया।

मन्दिर के शिखर से ध्वनि होती—'वत्स, सुखी रहो।' पाखंडियों के कलेजे पर सर्प लोट जाता था। दांत पीस कर कहते—'हाय, हाय! देखो यह कैसा अधम है। मिट्टी के पात्र से भगवान् को स्नान कराता है। राम! राम! ऐसे ही कर्मों से धर्म रसातल को चला जा रहा है।'

भगवान् शंकर से उन लोगों की यह दुर्भावना भला किस प्रकार छिप सकती थी। अन्त में उन्होंने किसी दिन परीक्षा करके उनकी भक्ति-हीनता का बोध उन्हें कराने का निश्चय किया।

× × ×

'मातु गोदावरी! मैं न समझता था कि अभागे गोविन्द के लिये अभी भी कोई शान्ति-दायक स्थान सुरक्षित है।' गोविन्द पुलकित होकर कहने लगा—'तुम्हारी शान्ति-पूर्ण लहरों ने अतीत के गर्भ में निहित मातृ-स्नेह को, जिसका धूमिल चित्र अभी भी हृदय स्थल में विराजमान है, नितान्त विस्मृति के अन्धकार में विलीन कर दिया। इच्छा नहीं होती कि तुम्हारी सुख-मय गोद को त्याग अन्यत्र भटकता फिरूँ।' गोविन्द ने बदन रगड़ते हुए कहा।

इच्छानुकूल स्नान कर लेने के पश्चात्—गोविन्द ने धोती बदली। गीली धोती निचोड़ कर कंधे पर डाली, और कुल्हड़ में जल भर कर पास ही स्थापित अपने चिर-परिचित शिवालय की ओर चल पड़ा। प्रखर पवन उसके मस्तक से टकराती हुई निकल गई। सघन वृक्ष एक दूसरे का आलिंगन करने लगे। मानो किसी महान् आपत्ति की आशंका से एक दूसरे को छोड़ने का साहस न करते हों। गोदावरी का जल तट पर टक्करें मारने लगा। रह रह कर पवन के तीव्र झोंके आने लगे। देखते देखते वायु ने इतना प्रचण्ड रूप धारण किया कि चारों दिशाओं में अन्धकार का अखिल साम्राज्य स्थापित हो गया। भूकम्प की संभावना करते ही शिवालय हिलता हुआ दिखाई दिया। गोविन्द की आँखों में आँसू आ गये। इस समय केवल एक ही प्रश्न उसके सामने उपस्थित था, वह यह कि यदि—'मन्दिर गिर पड़ा, और मूर्ति दब गई, तो फिर मैं पूजा किसकी करूंगा, किसकी आराधना में अपने जीवन की शेष घड़ियाँ बिताऊँगा।'

भक्ति का दम्भ रचने वाले, बड़ी पोथी-पग्गड़ वालों में भगदड़ पड़ गई। 'अरे भागो, रे भागो। कहीं मन्दिर न गिर पड़े।' सबके मुंह से केवल यही ध्वनि निकल रही थी। जल्दी जल्दी पुस्तकें लपेटी जाने लगीं। कोई सिर पर पाग रखना भूल गया, किसी ने पंच-पात्र वहीं रक्खा छोड़ा, और

किसी के जूते वहीं पड़े रह गये। सबके सब प्राण छोड़ कर घर की ओर भागे। यह थी भक्ति की बिडम्बना।

उधर, गोविन्द ने कमर कसकर भगवान् का ध्यान किया पूजनादि सामिग्री एक ओर रख दी। उतावली से दौड़ कर श्री शंकरजी की मूर्ति पर औंधा लेट कर उसे अपने हृदय में छुपा लिया। गोविन्द का विश्वास था कि ऐसा करने से मन्दिर उसके ऊपर गिर पड़ेगा, और भगवान् सुरक्षित रह सकेंगे।

क्षण भर पश्चात्—किसी ने उसके सिर पर हाथ रखा। गोविन्द ने सिर घुमाकर देखा, स्वप्न-दृष्टि-गत मूर्ति उसके सम्मुख खड़ी है। आँधी, भूकम्पादि शान्त हैं। वह अवाक् रह गया। उसे चुप देख भगवान् शंकर ने कहा:—'पुत्र उठो, यह सब मेरी माया थी।' भयभीत गोविन्द यथावत् लेटा रहा। भक्त वत्सल ने उसे उठाकर हृदयालिंगन करते हुए कहा—'पुत्र, वरदान माँगो। मैं प्रसन्न हूँ।' गोविन्द निरुत्तर खड़ा था।

'मैंने तुझे राजा बना दिया। अभी जाकर राज्य सँभाल' शंकरजी ने भाव-मयी मुस्कान के साथ कहा।

'मुझे अपने से विलग न करिये।' और वह उनके चरण-कमलों पर लोट गया।

सांय सांय करती वायु ने उसे थपथपाया और आकाश ने निर्मलता का आशीर्वाद दिया।

---

# नया सन्देश

हृदय वीणा परस कर क्रांति की झंकार पैदा कर।
नये श्रोता, नये गायक, नये उद्गार पैदा कर॥

युगों से हो रहा है गान कैसा एक ही स्वर में।
वही गति है, वही सम है, वही है ताल निर्झर में।
वही आरोह शब्दों का, वही अवरोह अक्षर में।
मनोरम अर्थ की कोई मधुर गुञ्जार पैदा कर।
नये श्रोता, नये गायक, नये उद्गार पैदा कर॥

अमर संगीत सुनकर देव भी नभ से उतर आवें।
सनातन काल की निधियां नई विधि से निखर आवें।
हृदय से काल सागर के, छिपे मोती उभर आवें।
निरन्तर साधना के योग से स्वर तार पैदा कर।
नये श्रोता, नये गायक, नये उद्गार पैदा कर॥

जहां प्रत्येक मानव का सुमन हो प्रेम का मनका!
जहां कांटे तुले फूलों से हो शृंगार उपवन का!
जहां कुछ कुछ समझ में आ सके उद्देश्य जीवन का!
तू अपने वास्ते कोई नया संसार पैदा कर!
नये श्रोता, नये गायक, नये उद्गार पैदा कर!!

सरलता से जिसे तू प्रेम अपना कर सके अर्पण।
रहे जो मानवी मन में कभी अनुभव न हो पाहन।
जिसे सब कर सकें अपना चराचर 'शेष' योगी जन।
तू अपनी ज्योति से कोई नया अवतार पैदा कर।
नये श्रोता, नये गायक, नये उद्गार पैदा कर॥

कविवर श्री शम्भुनाथ जी शर्मा 'शेष'
बी० ए० प्रभाकर




[ लेखकः—श्री पं० दीनानाथ भार्गव 'दिनेश' ]

मनुष्य के इस शरीर पर आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी सबका असर होता है। संयम का सूत्र टूट जाने से तत्त्वों के दाने बिखरकर अपने अपने तत्त्वों में मिल जाते हैं, उस समय शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु आत्मा दूसरे शरीर को धारण कर लेता है। आत्मा पर किसी तत्त्व का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सदा एक सा रहनेवाला है। इस आत्मतत्त्व को श्री भगवान् ने इस प्रकार कहा है—

**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**
**न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥**

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ३ | १ | ४ | २ | ७ | ५ | ८ | ६ |
| न, | एनम्, | छिन्दन्ति, | शस्त्राणि, | न, | एनम्, | दहति, | पावकः |
| नहीं, | इस आत्मा को, | काट सकते, | शस्त्र, | नहीं, | इसको, | जला सकती | अग्नि, |
| ११ | १३ | ९ | १२ | १० | १५ | १६ | १४ |
| न, | च, | एनम्, | क्लेदयन्ति, | आपः, | न, | शोषयति, | मारुतः, |
| नहीं, | और, | इसको, | गला सकता, | जल, | नहीं, | सुखा सकता, | वायु, |

आत्मा न कटता शस्त्र से है, आग से जलता नहीं।
सूखे न आत्मा वायु से, जल से कभी गलता नहीं ॥

**अर्थ**—इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकता।

**व्याख्या**—आत्मा परमात्मा का अंश है। परमात्मा अनश्वर है, अव्यय है। इस निर्विकारी अव्यय और अक्षर ब्रह्म का माया के विकार से किसी प्रकार भी

नाश नहीं हो सकता। अस्त्र-शस्त्र, अग्नि, जल, वायु ये समस्त प्रकृति-जन्य भौतिक पदार्थ हैं। अतः इन जड़ वस्तुओं से जैसे तलवार से आत्मा के टुकड़े नहीं हो सकते, अग्नि से आत्मा जलता नहीं, जल से वह भीगता नहीं और वायु उसका शोषण नहीं कर सकता।

शस्त्र उसी को काट सकते हैं जिसका कोई अवयव हो। आत्मा निरवयव है इसलिये शस्त्र इसे छेद नहीं सकते। आत्मा में कोई विकार, व्यय या घटा बढ़ी कभी नहीं होती। इसलिये छेदन, भेदन, जलाना, गलाना, सुखाना, आदि का इसमें कोई प्रयोग नहीं हो सकता।

आत्मा के इस महान् ज्ञान को प्राप्त करके ही वीर-पुरुष शरीर का मोह छोड़कर निर्भय हो अपना कर्तव्य पालन करते हैं। शरीर का मोह व्यर्थ है। यदि कर्तव्य-पालन की युद्ध-भूमि में यह शरीर नष्ट हो जाता है तो आत्मा अपने उपयुक्त दूसरा शरीर धारण करके फिर नये साहस से रणस्थली में आ जाता है। एक जन्म में, दो में, तीन में, कभी न कभी वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह बल, साहस, धैर्य्य और पराक्रम उसी समय प्राप्त होता है जब मनुष्य यह मान ले कि मैं अजर हूँ, अमर हूं, तलवार, गोली, गोले, बम आदि मुझे छेद नहीं सकते; भयंकर विस्फोट और अग्नि मुझे जला नहीं सकती। समुद्र में डाल देने पर भी मैं गल नहीं सकता। नाना गैस और वायु से मेरा शोषण नहीं हो सकता। मैं निर्भय हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं ईश्वर का अंश हूँ। इस प्रकार आत्म-ज्ञान और आत्म-गौरव को अपने अन्दर भर काम करने-वाला मनुष्य ही संसार में विजयी हो सकता है, उसी से धर्म और देश की सेवा होनी सम्भव है। कायर पुरुष जो केवल शास्त्रों का पाठमात्र करके अथवा कथा कीर्तन में बैठकर सुन लेनेमात्र में अपने को कृत-कृत्य समझ लेते हैं, धर्म का आचरण जिनमें नाम को भी नहीं होता, जरा सी विपत्ति में, हलचल में, संघर्ष में जो प्राणों का मोह लेकर भागते हैं उनसे धर्म देश और जाति की क्षति ही होती है।




भारतवर्ष में ऐसे ऐसे भक्त हुए हैं जिन्होंने तलवार तो क्या वज्र के प्रहार को भी फूल की तरह अपने शरीर पर सहन किया, आग में कूदगये, पानी पर चलते रहे और वायु में, शीत में, धूप में विचरते रहे पर उनकी कुछ भी

हानि न हो सकी। सत्य धर्म की अग्नि-परीक्षा में सीता ने अपने अन्दर आत्मा के गुणों को ही तो धारण किया था। आत्मवान् प्रह्लाद पर आग, पानी, पृथ्वी, वायु, किसी का भी कोई असर नहीं हुआ। इसी प्रकार के अनेकों प्रमाण हैं।

मनुष्य जितना आत्मवान् होगा उतना ही संकटों से निर्भय रहेगा और उसकी कोई हानि नहीं हो सकेगी।

योगी पुरुष आत्मवान् होकर आत्मा के इन गुणों को शरीर तक में धारण कर लेते हैं। उनकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु किसी का भी उन पर प्रभाव नहीं पड़ता। जगद्गुरु शंकराचार्य ने लिखा है—

मनो बुद्ध्यहंकारचित्तादि नाहं।
न श्रोत्रं न जिह्वा न च घ्राणनेत्रम्॥
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायुः।
चिदानन्दरूपः शिवोहं शिवोहं॥

मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि सबका जो लय करदे। सुनने, बोलने, सूंघने, देखने आदि में जिसकी आसक्ति न हो, आकाश वायु जल अग्नि पृथ्वी की जिसे कोई बाधा न हो वही सदा सच्चिदानन्द शिवरूप है। उन्नतिशील मनुष्य को नित्यप्रति ऐसा मनन करना चाहिये कि, 'मैं निडर हूँ, मुझे कोई शंका नहीं, मैं नित्य निरोगी हूँ, नित्य आनन्दमय हूँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार पर मेरा अधिकार है; आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी किसी का मुझे भय नहीं, किसी की मुझे बाधा नहीं, मैं नित्य सच्चिदानन्द में स्थित हूँ।' इस प्रकार के मनन से मानव आत्मा का सच्चा स्वरूप जानकर जीवन लाभ प्राप्त कर सकता है।

एक क्षण के लिये भी भगवान् का यह उपदेश हम न भूलें कि—

**अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।**
**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥**

| अच्छेद्यः [२] | अयम् [१] | अदाह्यः [४] | अयम् [३] | अक्लेद्यः [५] | अशोष्यः [७] | एव [९] | च [८] |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| छिदनेवाला नहीं, | यह आत्मा, | जलनेवाला नहीं, | यह | गलनेवाला नहीं, | सूखनेवाला नहीं, | निःसन्देह, | और |

| नित्यः [१०] | सर्वगतः [११] | स्थाणुः [१२] | अचलः [१३] | अयम् [८] | सनातनः [१४] |
|---|---|---|---|---|---|
| नित्य, | सर्वव्यापक, | स्थिर, | अचल, | यह | सनातन है |

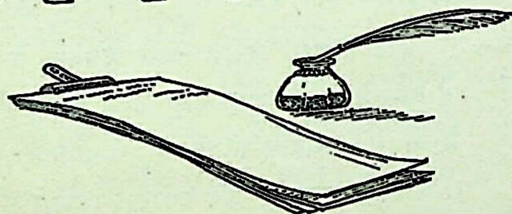
छिदने न जलने और गलने सूखने वाला कभी।
यह नित्य निश्चल थिर सनातन और है सर्वत्र भी॥

अर्थ—यह आत्मा न छिदनेवाला है, न जलनेवाला, न गलनेवाला और न सूखनेवाला है यह नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है।

व्याख्या—भगवान् का अभिप्राय यही है कि यह आत्मा सब उपाधियों से रहित अविकारी और अत्यन्त शुद्ध है। शस्त्र इसे छू भी नहीं सकते, क्योंकि यह संसार में सर्वत्र आकाशवत् व्याप्त है। प्रलय का जल

भी इसे डुबो नहीं सकता। भयंकर अग्नि भी इसे नहीं जला सकती, वायु की महा शोषण शक्ति भी इसे सुखाने में समर्थ नहीं है। यह तीनों कालों में रहने-वाला है, अचल है, सर्वत्र है, और शाश्वत है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पांचों कर्मेन्द्रियाँ और पांचों इन्द्रियों के विषय बने हैं। शरीर इन इन्द्रियों और इनके विषयों में बँध जाता है परन्तु आत्मा पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का कोई असर नहीं पड़ता। जो पुरुष इन्द्रियों और उनके विषयों को जीत लेता है वही आत्मवान् कहलाता है। वह नित्य, सर्वगत, शाश्वत, अचल और सनातन ब्रह्म में निवास करके ब्रह्म रूप ही हो जाता है। आत्मा रूप परमात्मा हमारे अन्दर है। हम जितना चाहें उसे शक्तिशाली बनाकर रख सकते हैं और जितना चाहें दबा सकते हैं। इसीलिये वेदान्त का सिद्धान्त है कि अपने अन्दर की बात सुनो, अपने आपको जानो, अपने आपके दर्शन करो, अपनी शक्ति को समझो, तभी तुम परमात्मा को पहचान सकते हो। परमात्मा की कृपा का अधिकारी भी वही पुरुष होता है जो अपने स्वरूप को समझकर अपना आचरण बनाता है।




## हमारी दुर्दशा—

हम लोग स्वयं कर्म करते नहीं और दूसरों को करने नहीं देते। 'जैसे हम हैं, वैसे ही सबसे अच्छे हैं'; इस भाव ने जिस अहं को जन्म दिया है वह अहं न दूसरे के गुण जानता, न परिस्थिति देखता और न उसे किसी को अपने से ऊपर उठते देखकर प्रसन्नता होती है। परतन्त्र देश के मस्तिष्क गुलामी में रहते रहते ऐसे हो जाते हैं जिन्हें अपना या पराया हित अथवा अनहित समझने की भी अभीप्सा नहीं होती। वे जीवन बनाने के लिये नहीं बल्कि जीवन बिताने के लिये कर्म करते हैं।

एक महानुभाव से हमने कहा, "कहिये लालाजी आपने मानवधर्म देखा?" बोले "पंडितजी, मुझे तो आपका उपदेश याद है कि संसार में भगवत्-नाम के सिवा कहीं किसी में सार नहीं, एक नाम देख लिया तो दुनियां की सब चीज़ें देखलीं। बस मैं तो उस दिन से कुछ देखता ही नहीं। आप ही ने कहा था ना?" मैं अवाक् रह गया क्या कहा जाय। संसार कितना बनावटी और भयानक बन रहा है! व्यापार करने का अवकाश है, ताश खेलने का, सिनेमा जाने का, बड़े लोगों में बैठकर गप्पें मारने का और सब तरह का अवकाश है, पर कहीं अच्छे

धार्मिकपत्र या कथा की चर्चा की जाय तो, भगवत् नामके सिवा कुछ नहीं। इस बनावट से देश का उद्धार और धर्म की सेवा में हम सफलता चाहते हैं? धर्म के लिये पैसा खर्च करने में ही हमें सारी उलझनें हैं। धर्म-कार्यों के लिये प्रेरणा देनेवाला आज के समाज की निगाह में स्थान नहीं पाता। धर्म की सेवा का सच्चा प्रयत्न आज बनावट कहा जाता है और बनावट पाखंड और सरासर धर्म के नाम पर धोखे में, मनुष्य दिलचस्पी लेते हैं।

हमारा कोई काम धर्म के उन सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होता जिनकी हम दुहाई देते हैं। कैसी विडम्बना है!

**क्रान्ति—**

बिना क्रान्ति के कभी कोई जीवन नहीं बनता, देश स्वतन्त्र नहीं होता और राष्ट्र सम्पन्नता नहीं पाता। न जाने कितनी क्रान्ति के बाद यह मनुष्य-शरीर बना है। आज हम आलस्य, प्रमाद, भय और संकुचित स्वार्थी भावों से इसकी अवहेलना कर रहे हैं।

**विरोध—**

जिसके पास धन नहीं है वह धनवानों की बुराई करता है, जिसके पास धर्म नहीं वह धर्मात्माओं को संसार की दौड़ में पिछड़ा हुआ समझता है, जो कमजोर है वह हिंसा को बुरा कहता है और जो बलवान् है वह हिंसा के गीत गाता है। एक दूसरे के विरोध और विनाश में जीवन की आनन्द-निधि को लुटाकर हम सुख चाहते हैं यह कैसे सम्भव है।

**भगवत्-रहस्य—**

चाहे हम धर्म और भगवान् को माने या न माने, उसके लिये कोई कार्य करें या न करें, परन्तु जब कोई बात हमारे वश की नहीं रहती, हमारी इच्छा के विपरीत हो जाती है अथवा हमसे नहीं होती या बिगड़ जाती है तो हम तत्काल ही पूर्ण ईश्वर-विश्वासी बनकर कहते हैं कि इसमें भी कोई भगवत्-रहस्य है। जहां कर्म हमसे न हो या जहां हमारी शक्ति काम न करे अथवा जहां बहाना करना हो या काम से जी चुराना हो वहीं हम भगवत्-रहस्य को मानते हैं। रुपया हमें न मिले या रोटी न मिले अथवा पीड़ा से व्याकुल हो जाँय अथवा मेहनत अधिक करनी पड़े तब हम यह कहकर प्रसन्न नहीं रहते कि इसमें भी कुछ भगवत्-रहस्य है। धर्म, भगवान् तथा अध्यात्म के हर पहलू को मनुष्य अपने रंग में रंगना चाहता है स्वयं उनके रंग में नहीं रँगता। भगवत्-भक्ति और कर्म-योग के अभाव में भगवत्-रहस्य आज बालकों का खेल हो गया है।

यदि हमारा प्रत्येक कार्य भगवान् के लिये है तो निसन्देह जो कुछ हम करते हैं, दूसरे शब्दों में जो कुछ भगवान् की आज्ञा से होता है, उस सब में भगवत्-रहस्य है। जब हमारे कर्म हमारे लिये होते हैं, भगवान् को भूल कर होते हैं। और भगवान् की याद केवल लाचारी के समय आती है, तब भगवत् इच्छा अथवा भगवत्-रहस्य की आड़ लेना भगवान् पर असफलता का लांछन लादना है। भगवान् की आज्ञा टाल कर, जो कर्मयोग और भक्ति की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते वे कभी भगवत्-रहस्य समझने योग्य नहीं बनते।

**भगवान् की कृपा—**

कर्म-मार्ग की पगडंडी पर भगवत्-कृपा का दर्शन होता है। विशेष कर उस समय जब दुर्गम, कंटकाकीर्ण पथ भी सरल और सुगम बन जाता है। युद्ध

के जिस काल में मानवधर्म उठा उस समय इसके पथ में कितनी बाधायें थीं यह तो यही जानता है। मित्रों ने हतोत्साह किया, समय ने लताड़ा, सामान ने निराशा दी, जनता ने कहा ऐसे समय में यह क्या सूझी ? पर मन नहीं माना ; यह उठा और चला। उसने समय से युद्ध किया, मित्रों को फिर साथ लिया सामान को जैसे तैसे जुटाया, जनता को जा जा कर दिखाया और अन्त में जनता ने उसे अपनाया। जनता का विश्वास नहीं जमता था कि पत्र की जड़ इस आपत्ति की बाढ़ में जम सकेगी। पर आज जगद्-गुरुओं के, महात्माओं के, लेखकों के, कवियों के, और जनता के प्रसन्नता से भरे प्रशंसा-पत्र आरहे हैं कि इस समय मानवधर्म की पूरी पूरी आवश्यकता है। भगवत्-कृपा का यह दर्शन उज्ज्वल भविष्य की आशा दिलाता है। भगवान् को धन्यवाद देना तो छोटे मुँह बड़ी बात है पर हमारी उस मानवधर्म-संस्थापक, विश्व-हितकारी, सच्चिदानन्द से यही प्रार्थना है कि हे प्रभो ! आप हमें धर्म-सेवा करने का बल और रुचि दें। बिभ्रान्ति, थकान और निराशा की ताड़िका इस यज्ञ में विघ्न न डालने पाये इसके लिये आपका धनुष-बाण मानवधर्म की रक्षा करे। वृथा आशा, तृष्णा और व्यापारिक छल के कंचन मृग का अन्त करने में आप ही समर्थ हैं। किंकर्तव्यविमूढ़ भारत को आपने जैसी कर्म में रुचि उत्पन्न करादी थी उसी रुचि को आज भारत के लिये प्रदान करें; जिससे आपके दिव्य-सन्देश को घर घर सुनाने में मानवधर्म सफल हो।

आपने इस संसार को युद्धस्थल बनाकर मानव-मात्र के प्रतिनिधि अर्जुन को यही कहा कि—

युद्धस्व भारत

उसी युद्ध का सन्देश लेकर मानवधर्म का तृतीय वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। भगवन्! वर दो कि आपका वीरवेश हमारी आँखों में हो, आपका सन्देश हमारे कानों में हो, आपके चरण-कमल हमारे हृदय में हों और आपकी प्रेरणा हमारे रोम रोम में उत्साह भर कर जीवन-युद्ध की विजय सूचना दे रही हो। आपके रहते हुए हमें विश्वास है कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

श्री कृष्ण योगेश्वर जहां, अर्जुन धनुर्धारी जहां।
वैभव, विजय, श्री, नीति सब, मत से हमारे हैं वहां ॥

## धन्यवाद—

अन्त में हम उन महानुभावों का हृदय से धन्यवाद करते हैं जिन्होंने मानवधर्म के लिये सामिग्री जुटाने में, लेख लिखने में, चित्र कविता आदि भेजने में हमारी सहायता की। विशेषतः सर्वश्री पं० लक्ष्मणनारायणजी गर्दे बनारस, मिश्र बन्धु डा० श्यामविहारी मिश्र डी० लिट् तथा रा० ब० पं० शुकदेव बिहारी मिश्र, श्री १०८ त्यागमूर्ति गोस्वामी गणेशदत्त जी महाराज, श्री १०८ स्वामी गोपालनाथजी आनन्द मूर्ति षड्दर्शनाचार्य, श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, श्री पं० कृष्णदत्त जी भारद्वाज M. A. साहित्याचार्य, डा० दुर्गाशंकर जी नागर, पं० रामचन्द्रजी तिवारी, कवीन्द्र श्री नाथूराम जी माहौर, श्री पं० तिलकधर शर्मा शास्त्रविशारद प्रभाकर आदि महानुभावों ने मानवधर्म के सम्पादन में, लेख भेजने में तथा उचित परामर्श देने में सदैव तत्परता दिखाई है, हम इन महानुभावों का हृदय से धन्यवाद करते हैं और इसी प्रकार सहयोग की आशा रखते हैं।

मानवधर्म की निस्वार्थ सेवा करने में, उसका प्रचार और आर्थिक सहायता करने में जिन महानुभावों ने हमारा हाथ बटाया उनका भी हम धन्यवाद करते हैं—

श्रीयुत सेठ दुर्गादत्तजी लोहिया, तिनसुकिया आसाम
श्री सेठ चुन्नीलालजी गर्ग, कानपुर
श्री ला० सांवलदासजी लोहिया, देहली
श्री ला० घासीरामजी लोहिया, देहली
श्री ला० ताराचन्द श्रीरामजी लोहिया, देहली
श्री ला० विशम्भरदयालजी लोहिया, देहली
श्री बा० नन्दकिशोरजी C. E. अम्बाला
श्री बा० गेंदारामजी B. A. अम्बाला
श्री ला० मुंशीरामजी, अम्बाला
श्री ला० गौरीशंकरजी, कलकत्ता
श्री ला० जगनारायणजी अग्रवाल, पटना
श्री बा० जगजीवनलाल भटनागर, नई देहली
श्री पं० दुर्गादत्तजी, शिमला
रायजादा पं० मेलारामजी वेद, शिमला
श्री पं० प्रेमनाथ भार्गव फर्म फकीरचन्द रामनाथ, देहली
श्री सुन्दरलालजी भार्गव कागजी देहली

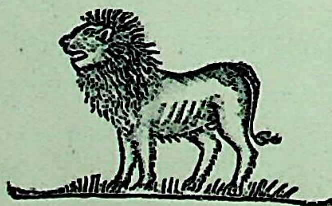
आदि आदि महानुभावों ने मानवधर्म की हृदय से निस्वार्थ सेवा की है उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री पं० गोपीनाथजी भार्गव टीटागढ़ पेपर मिल्स लिमिटेड तथा श्री पं० हरिहरनाथजी भार्गव इन्डिया पेपर मिल्स कम्पनी ने मानवधर्म को ऐसे कठिन समय में जब कागज किसी मूल्य पर भी नहीं मिलता था, बराबर कागज मिल रेट पर दिलाया। इन्हीं महानुभावों की सहायता से मानवधर्म आज जीवित है।

इस वर्ष 'युद्धांक' के सम्पादन के लिये जिन महानुभावों ने कृपा कर अपनी स्वीकृति भेज दी है उनके हम हृदय से आभारी हैं और हमें पूर्ण विश्वास है कि उनके सम्पादन में युद्धांक एक महत्वपूर्ण अंक होगा। निम्न महानुभावों ने युद्धांक का सम्पादन आरम्भ कर दिया है—

म० म० श्री पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य, प्रिंसिपल संस्कृत कालेज, जयपुर
विद्यावाचस्पति श्री पं० जौहरीलाल जी शर्मा, सांख्ययोगाचार्य
श्री १०८ स्वामी गोपालनाथजी आनन्दमूर्ति षड्दर्शनाचार्य
विद्याभूषण श्री पं० मोहन शर्मा विशारद, इटारसी
श्री पं० रामचन्द्रजी तिवारी, देहली

भगवान् से एक बार पुनः प्रार्थना है कि मानवधर्म की बागडोर अपने कुशल करों में लेकर इस युद्ध-क्षेत्र में युद्धांक का शंखनाद करते हुए धर्म की संस्थापना करके दुखी विश्व को शांति प्रदान करें।



# मानवधर्म का विशेषांक युद्धांक

जीवन की घाटी में कितनी घटनाओं का सामना करना पड़ता है? उन पर विजय कैसे प्राप्त हो? विश्व केवल विजयी पुरुषों के लिये है। कायर और अबोध मानव इसके संघर्ष में पिस जाते हैं। धर्म में कितना बल है? उसके लिये युद्ध कैसे होता है? वास्तविक विजय क्या है? आदि आदि मनोरंजक और उपयोगी प्रश्नों का उत्तर मानवधर्म के विशेषांक युद्धाङ्क में मिलेगा।

जो ग्राहक न हों उन्हें ग्राहक बनने में शीघ्रता करनी चाहिये।

और

ग्राहकों को अपना नये वर्ष का चन्दा भिजवा देना चाहिये ताकि युद्धांक जैसा उपयोगी अंक समय पर मिल सके।

July 1943 Regd. No. L-4824

MANAVA DHARMA

# महत्वपूर्ण युद्ध

[ ले०—स्वामी गोपालनाथ आनन्दमूर्ति षड्दर्शनाचार्य जयपुर ]

हम संसार की ओर चलते हैं और संसार हमारी ओर; दोनों के मिलने से एक संघर्ष होता है। इस संघर्ष में हम संसार पर शासन करना चाहते हैं और संसार हम पर। धैर्यवान् और साहसी की विजय होती है। इस विजय का सुख भोगने के लिये ही मनुष्य को ईश्वर ने भेजा है।

संसार बड़ा बलवान् है; इसे वालि कहा जाय तो उपमा ठीक होगी। यह मानव की श्री को अर्थात् उसकी शक्ति को छीन लेता है। उसे मार कर निराशा के पहाड़ पर भगादेता है। श्रीविहीन मानव भटकता है और विचार करता है कि क्या करूं ? भगवान् दया करके उसे दर्शन देते हैं और फिर वह एक वार उनके कहने से बलपूर्वक वालि से लड़ जाता है। परन्तु वालि में अपार बल है। वह मानवरूप सुग्रीव को फिर मार भगाता है। भगवान् को इस प्रयत्नशील मानव पर दया आती है और अपनी जयमाला या कृपा का उपहार उसके गले में डालदेते हैं। मानव फिर युद्ध करता है और इस बार भगवान् के बल का तीर संसार रूप वालि का वध करदेता है। संसार का वध उसके कलुषित भावों का वध है। अन्दर रहनेवाली आत्मा तो सदा अमर है।

ऐसा महत्वपूर्ण युद्ध परन्तु विकट युद्ध मानव को करना पड़ता है।

मानवधर्म के युद्धांक की विषय-सूची से ऐसे ही युद्धों का स्वरूप हमारे सामने खड़ा हो जाता है जो मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले हैं। एक नई और विलक्षण सूझ है जिसके लिये मानवधर्म के सम्पादक प्रिय दिनेश जी वधाई के पात्र हैं। थोड़े ही समय में अपने व्यावहारिक समयोपयोगी, सर्वभूत-हितकारी, मानवोचित लेखों और विचारों को जनता के सामने रख कर मानवधर्म जनता का पत्र बनता जारहा है। हमें आज ऐसे ही कर्म का आदेश देनेवाले व्यवसायी नहीं बल्कि सच्चे स्वरूप में धार्मिक पत्र की आवश्यकता थी। मैं मानवधर्म में जीवन बोलता हुआ देखता हूँ। सम्पादक का अनथक परिश्रम इस में झलकता है। इस कठिन समय में इतना विशाल आयोजन सराहनीय और सहयोग का पात्र है। मुझे आशा है कि भारतवर्ष के विद्वान्, कवि, पंडित, महात्मा आदि लेखों से और जनता इसके प्रचार से सम्पादक का उत्साह बढ़ा कर धर्म-सेवा को प्रोत्साहन देगी।

मैं हृदय से इसकी उन्नति का अभिलाषी हूँ।

Printed & Published by Dina Nath Bhargava 'Denesh' at the Jamna Printing Works, Peepal Mahadev Delhi.